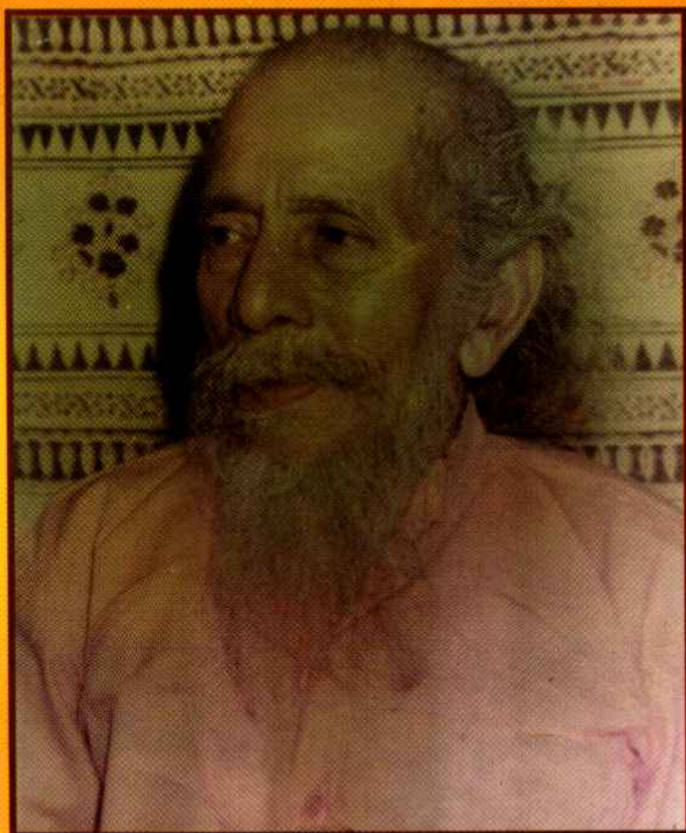
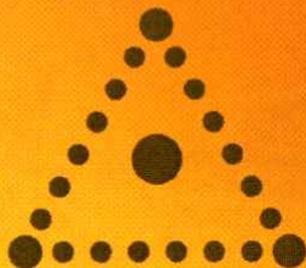
 श्रीः 

श्रीमदमृतग्रन्थमालायाः

आत्मविलासः

सटिप्पणसुन्दरीसहितः





प्रणेता -

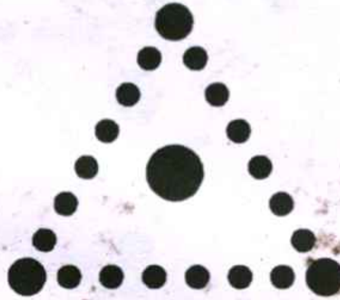
अमृतवाग्भवाचार्यः ।

॥ श्रीः ॥

श्रीमदमृतग्रन्थमालयाः नवमं (९) पुष्पम्–

आत्मविलासः

महामहिम–आचार्य–अमृतवाग्भव–प्रणीतः।
स्वकृत ''सुन्दरी'' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्याविभूषितः।
डा. बलजिन्नाथपण्डितविरचितटिप्पणीसमलङ्कृतश्च।



विद्वद्वरकलास्थानं श्रीपीठं पण्डितप्रियम्।
अमृतं वाग्भवं भूयात् पुरुषार्थप्रसिद्धये॥

प्रकाशकः–
श्रीपीठम शोधसंस्थानम्
मूल्यम् .... रूप्यकाणि

प्रथमं संस्करणम्=१९९३ वि.

द्वितीयं संस्करणम्=२०३९ वि.

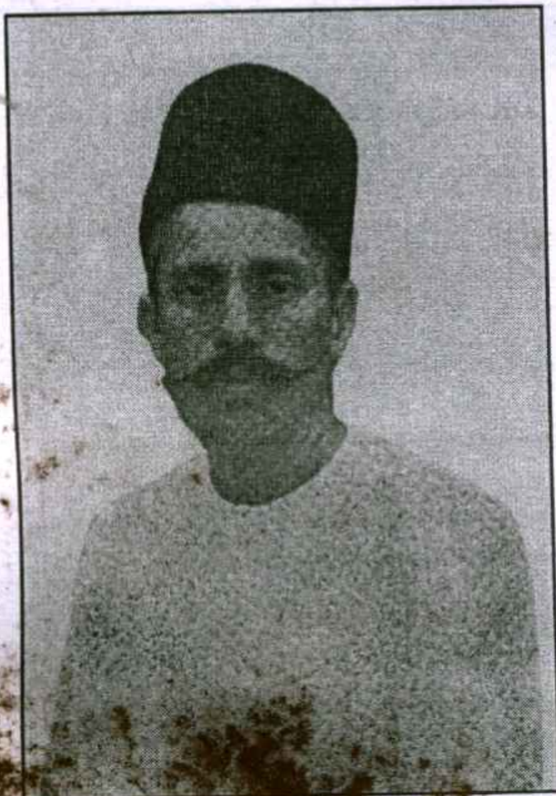
तृतीय संस्करणम्=२०६६ वि.

श्री गुरु महाराज की असीम अनुकम्पा से
इस ग्रन्थ रत्न के संस्करण का व्यय श्री सेवा राम शर्मा व
डा० ब्रज नन्दन शर्मा ने वहन किया।

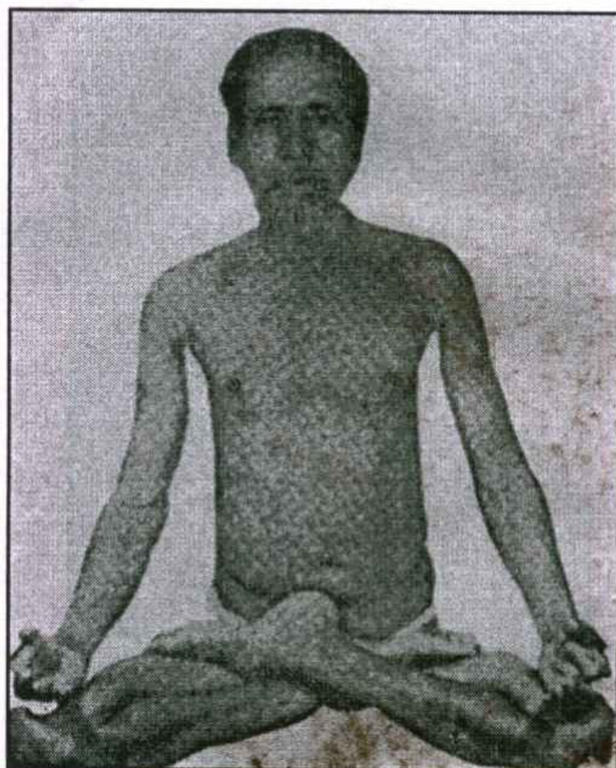


पुस्तक मिलने का पता:—
"श्रीभवन" मन्दिर
बी—४३, पर्यावरण काम्पलेक्स, साकेत,
नई दिल्ली—११००३०

मुद्रक—एस. के. प्रिन्टर्स, मेन कुतुब रोड, नई दिल्ली—११००५५



ग्रन्थकार महोदय:–
सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र–महामहिम
आचार्य–अमृतवाग्भव जी महाराज
चित्र सं. १९९३ विक्रमी का



ग्रन्थकार महोदय:—
चित्र सं. वि. २०१७ का

प्रास्ताविक

(प्रथम संस्करण का)

भगवान् भूतभावन की अपार कृपा से आज हम अत्यन्त हर्ष के साथ ग्रन्थमाला का यह तृतीय पुष्प आपके सामने प्रस्तुत कर रहे है। इस ग्रन्थमाला को प्रकाशित करने का एकमात्र यही उद्देश्य है कि उच्चकोटि के राष्ट्रिय, धार्मिक तथा दार्शनिक हिन्दी संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन द्वारा मातृभाषा (हिन्दी संस्कृत) की सेवा के साथ भारतीय जनता में उच्च भावनाओं तथा राष्ट्रिय विचारों का सञ्चार किया जाए। तदर्थ इससे पूर्व श्रीपरशुरामस्तोत्र तथा श्रीराष्ट्रालोक नाम के दो अत्यद्भूत ग्रन्थरत्न आप लोगों को भेंट किए जा चुके हैं जिनकी सभी विद्वानों एवं पत्र–पत्रिकाओं ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। अब हम श्री आचार्यचरण का यह तृतीय ग्रन्थ ''आत्मविलास'' आप की सेवा में अर्पित कर रहे हैं। आशा है कि आप इस अद्भुत दार्शनिक ग्रन्थ से परमानन्द प्राप्त करेंगे।

ग्रन्थ आप के हाथों में है, अत: इस ग्रन्थ की उपादेयता या श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। यदि सहृदय सज्जन इस ग्रन्थ का सम्मान कर हमारे उत्साह को बढ़ाएंगे तो शीघ्र ही ग्रन्थमाला का चतुर्थ पुष्प भी आप की सेवा में रख सकेंगे।

श्री पञ्चमी १९९३ वि.,
श्री मातृभाषा प्रचारकग्रन्थाकर,
अमृतसर।

निवेदक
राष्ट्रहितैषी
स्व. पं. हरिभानुदत्त शास्त्री

प्रास्ताविक

(द्वितीय संस्करण का)

यह संसार पारमेश्वरी लीला का अति मनोरम विलास है। इस अत्यन्त विचित्र और बहुमुखी विलास में विशेष करके मोक्षलीला का प्रदर्शन अतीव आह्लादप्रद है। उसी लीला का एक विशिष्ट अंग मोक्ष—शास्त्र निर्माण है। ज्ञान, योग, भक्ति आदि के उपायों से साधक को अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानकर जब इस बात की साक्षात् अनुभूति हो जाती है कि वह वस्तुत: परमेश्वर ही है, उससे भिन्न और कोई नहीं है, तो उसके भीतर पारमेश्वरी शक्तियों की अभिव्यक्ति हो जाती है और वह सिद्ध बनकर जीवनमुक्ति के चमत्कारों का सरस आस्वादन करता हुआ सर्वथा आनन्दमय जीवन को व्यतीत करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसके लिए कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। वह प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति तक इस संसार में टिका रहता है। उसके उपदेशों के द्वारा, विधिपूर्वक दी जाने वाली दीक्षा के द्वारा और ग्रन्थलेखन, ग्रन्थव्याख्या आदि के द्वारा मोक्षमार्ग पर चलने वाले मोक्ष के पात्रों का बड़ा उपकार हुआ करता है। उसके इन उपकारकृत्यों में से ग्रन्थरचना और ग्रन्थव्याख्या आदि के द्वारा उन का बहुत बड़ा उपकार होता रहता है। ये दोनों उपकारकृत्य ऐसे होते हैं जिनसे अगली शताब्दियों, सहस्त्राब्दियों आदि तक साधकों और जिज्ञासुओं का अतीव कल्याण होता रहता है।

प्रकृत ग्रन्थ आत्मविलास के निर्माता और व्याख्याता आचार्य श्रीमद् अमृतवाग्भव जी महाराज को बाल्यकाल में अपने घर में ही अनुग्रहमूर्ति भगवान् दुर्वासा मुनीश्वर ने अपार कृपा करते हुए दर्शन दिए और सर्वोत्कृष्ट राजयोग की दीक्षा से कृतार्थ किया। उस योग के सफल अभ्यास से जो आत्मसाक्षात्कार उन्हें अनायास ही हो गया उसी के आधार पर उन्होंने लोक कल्याण के लिए अनेकों ग्रन्थों का निर्माण समय—समय पर किया।

आत्मविलास का निर्माण कब, कहां और किस हेतु से हुआ, इन बातों पर ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में प्रकाश डाला गया है। इसी तरह से सुन्दरी नामक व्याख्या के निर्माण के विषय में भी वहां स्पष्ट कहा गया है। सटीक आत्मविलास के प्रथम संस्करण का प्रकाशन संवत् १९९३ वि. में हुआ था। अनेकों ही दशाब्दियों से यह ग्रन्थ दुष्प्राप्य बना रहा है। अत: इसके अभिनव प्रकाशन का संकल्प ग्रन्थकार के द्वारा प्रवर्तित श्रीपीठ नामक संस्था के पदाधिकारियों को आज से लगभग दस वर्ष पहले हुआ। इसी प्रयोजन से श्रीपीठ के मन्त्री ने सुन्दरी व्याख्या में बताए हुए सूक्ष्मतर दार्शनिक विचारों को और स्पष्ट करने के लिए एक तो कहीं कहीं टिप्पणी लिखी और दूसरे परिशिष्ट के रूप में देने के लिए एक पारिभाषिक शब्दकोष का भी निर्माण कई वर्ष पहले किया। परन्तु अभी तक ग्रन्थ का मुद्रण नहीं किया जा सका।

छ: सात वर्ष पूर्व भरतपुर निवासी पं. श्री मिश्र गोविन्द शर्मा ने सुन्दर अक्षरों में वर्तमान संस्करण की प्रेस कापी को लिखा। परन्तु श्रीपीठ के सभी सदस्यों को इस बात का अतीव खेद है कि मिश्र जी मुद्रित संस्करण को देखने से पूर्व ही शिवधाम को सिधार गए।

मूल ग्रन्थ का निर्माण सवत् १९८७ वि. में श्रावण शुक्लपक्ष की चतुर्दशी शुक्र वार को पूरा हुआ और अथ श्री द्वितीय संस्करण का विमोचन विक्रमी संवत् २०३९ (२०३९) श्रावण शुक्ल पक्ष चतुर्दशी शुक्रवार को आचार्य श्री के हाथों से ही सम्पन्न हुआ।

'आत्मविलास' इस नाम से ही ग्रन्थ के मुख्य विषय के बारे में स्पष्ट अभिव्यञ्जना होती है। यह सारे का सारा संसार तथा जीवों का बन्ध—मोक्ष वैचित्रय सर्वथा आकाशपुष्प तुल्य या शशविषाण तुल्य नहीं हैं, न ही यह मूल तत्व के सम्मुख ठहरी हुई किसी अविद्या जैसी

उपाधि के आधार पर चल रहा है, अपितु परमेश्वर के स्वतन्त्र लीला–विलास का अभिनयमात्र ही यह सारे का सारा प्रपञ्च है। इसके इस परमरहस्य को भली भांति अनुभव में लाकर ही साधक पूरी तरह से कृतकृत्य हो सकता है। तो समझिए कि सारा प्रपञ्च आत्मदेव का विलास है और इसे आत्मविलास के रूप में साक्षात् अनुभव करने में ही जिज्ञासु साधक का सर्वोत्कृष्ट कल्याण है। यही सिद्धान्त इस शास्त्र का मुख्य विषय है। इसी सिद्धान्त को इस ग्रन्थ के कई एक प्रकरणों में भिन्न भिन्न प्रकार से समझाया गया है। फिर भी इस ग्रन्थ में प्रतिपादित मोक्षशास्त्र के तत्त्वों को समझने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि की, पूरी सावधानता की तथा चित्त की एकाग्रता की आवश्यकता है क्योंकि सारा ग्रन्थ आद्योपान्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्यात्म विचारों से भरा हुआ है और इस की शैली सूक्ष्मतर तर्क की है।

इस शास्त्र का प्रथम प्रकरण मङ्गलाचरणात्मक है, परन्तु साथ ही साथ सारे ग्रन्थ के संक्षिप्त सार का निर्देश भी इसमें किया गया है। दूसरे प्रकरण में परमतत्व की सच्चिदानन्दरूपता का प्रतिपादन तर्क की युक्तियों से भली भांति किया गया है। तीसरे प्रकरण में परमेश्वर के परिपूर्ण स्वातन्त्र्य का तथा स्वातन्त्र्य की महिमा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। चौथे प्रकरण में विद्या और अविद्या की लीलाओं के द्वारा विलास करती हुई परमेश्वर की स्वभावभूता महाविद्या के स्वरूप पर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का भलीभांति प्रतिपादन किया गया है। पांचवे प्रकरण में आपेक्षिक निर्मलता और सांसारिक समलता का आभासन कराने वाली नित्यक्रीडनशीला पारमेश्वरी परिपूर्ण निर्मलता के स्वरूप और स्वभाव का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। छठे प्रकरण में सीमित कर्तृत्व और आपेक्षिक अकर्तृत्व का निरुपण करते हुए परमेश्वर के उस परिपूर्ण कर्तृत्व का स्पष्टीकरण किया गया है जिसके लीलाविलास के भीतर ही उन आपेक्षिक कर्तृत्व और अकर्तृत्व का आभासन नाटयकला के अभिनय की तरह हुआ करता है। इन सभी प्रकरणों में निचली कोटि के अधिकारियों के लिए उपयुक्त स्थूलदर्शी दर्शनों के सिद्धान्तों का

युक्तियुक्त विश्लेषण, परीक्षण और आलोचन आदि किया गया है। अन्तिम प्रकरण में ग्रन्थकार ने अपना परिचय देते हुए ग्रन्थनिर्माण के और व्याख्यारचना के इतिहास का दिग्दर्शन कराया है।

इस ग्रन्थरत्न की विशेष महिमा यह है कि इस में कल्पनाओं का आश्रय न लेते हुए साक्षाप्त् अनुभूत वस्तुतत्त्व का स्पष्टीकरण सूक्ष्मतर तर्क की शैली से किया गया है। अतः सूक्ष्म विचारशक्ति से सम्पन्न श्रद्धालु जिज्ञासुओं को इस ग्रन्थ का पुनः पुनः मनन करने से अध्यात्म तत्व का यथार्थ ज्ञान विकास में आ सकता है।

प्रेस कापी के लेखक, शिवधामवासी श्री मिश्रगोविन्द जी के प्रति हम पुनः आभार प्रकट कर रहे हैं। प्रूफ संशोधन में सच्ची दिलचस्पी से काम करने वाले श्री ब्रजनन्दन शर्मा और श्रीमती डा० गिरिजा शर्मा के भी हम विशेष आभारी हैं। ग्रन्थप्रकाशन व्यय के चतुर्थांश का भार उठाने वाले दोनों सज्जनों के भी हम आभारी हैं।

प्रथम संस्करण के प्रकाशन के अवसर पर जिस दिलचस्पी से डा० भवानी शंकर त्रिवेदी एम. ए., पी. एच. डी. शास्त्री, प्रयत्नशील बन रहे उसके लिए वे पुनः धन्यवाद के योग्य हैं।

जम्मू श्रावन शुक्लपक्ष चतुर्दशी
वि. संवत् २०३९

डा. बलजिन्नाथ पण्डित
मन्त्री, श्रीपीठ।

!! श्रीहरि: !!

प्रास्ताविक

(तृतीय संस्करण का)

" **नायमात्मा प्रवचनने लभ्य:।**" (कठ उ०, १.२.२३)

आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म, परमेश्वर, परब्रह्म अथ च प्रणव सूक्ष्मदृष्टि से अनन्य एवं अन्योन्य पर्यायवाची परमतत्त्व हैं। पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैत ही परम तत्त्व है। द्वैत आदि उस ही के अनन्त विलास, आत्मविलास हैं। यह सब आत्मा है, ' ब्रह्म है, यह आत्मा ही ब्रह्म है, यह लोक–शास्त्र प्रसिद्ध आत्मा चार–पाद (विश्व, तैजस्, प्राज्ञ एवं तुरीय) वाला है– "**सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।**" (मा०उ०, २)। इसमें भी चतुर्थ (तुरीय तत्त्व) शान्त, शिव, अद्वैत ही आत्मा एवं विज्ञेय (परम जिज्ञास्य) है। – " **शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय:।**" (वही, ७)। जो प्रणव (ओङ्कार) ही आत्मा है, वह ही 'ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् भी है' – " **ब्रह्मेति परमात्त्मेति भगवानिति शब्द्यते।**"(श्रीमद् भा०, १.२.११)।

उस परमेश्वरीय आत्मतत्त्व की ' अतनशीलता' (गतिशीलता) ही उसका विलास अथच आत्मविलास है। महर्षि बादरायण वेदव्यास के ब्रह्मसूत्र में उसका विलास ही " **लीला कैवल्य**" है। (ब्र०सू०, २.१.३३)। पुनश्च यह आत्मतत्त्वीय (परमेश्वरीय) गतिशीलता (अतनशीलता) ही उनकी उभयविध, बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी, लीला है।

आत्मा की बहिर्मुखी लीला का परिचायक '**जन्माद्यस्य यत:**' यह ब्रह्मसूत्र (१.१.२) एवं '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।**' (तै० उ०, ३.१) आदि श्रुति प्रमाण है। पुनश्च बहिर्मुखीलीला में ही बद्धजीवों की भान्ति वह आत्मा अपने ही के अनन्तानन्तरूपों में प्राक्ट्यलीलाभिनयपूर्वक नटवरवत् (श्रीमद् भा०, १०.२१.५) कर्मजन्य भोगों का अनुभव करता सा प्रतीत होता है–

" **घनछन्नदृष्टिर्घनछन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ़ः।**
तथा बद्धवद्भाति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योपब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।"

(हस्तामलकम्, १०)

अपनी ही अन्तर्मुखी लीला में स्वयमेव वह ही आत्मतत्त्व परमनिष्प्रपञ्चरूपेण, समस्त बहिर्मुखी लीला को अपने आप में लीन करके, सजातीय – विजातीय – स्वगत – भेदशून्य नित्य – शुद्ध – बुद्ध – मुक्तस्वभाव–सर्वज्ञ–सर्वशक्तिसमन्वित परमेश्वर आत्ममहातत्त्व ही है। यह ही उसका अत्यन्त संक्षिप्त " आत्म विलास" है। उस अनन्त आत्मा के परमानन्त आत्मविलास का कहीं अन्त है ही नहीं– " **नास्त्यन्तो विस्तरस्य में।"** (गीता, १०.१९)।

यह आत्मा 'अतनशील' (गतिशील) रूपेण अपौरूषेय एवं परमात्मीय–निश्वासभूत वैदिकवाङ्मय में सर्वप्रथम मुखरित हुआ है। ऋग्वेद में वह आत्मा "**अतति सर्वत्र व्याप्नोति सर्वान्तर्यामी।**" (ऋ.वे.१.११५.१)। अर्थात्– 'वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त एवं सर्वान्तर्यामी है।' यजुर्वेद में भी उसही आत्मा को 'सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी अथवा स्वस्वभाव परमात्मा है'– " अतति सर्वत्र व्याप्नोति इति सर्वान्तर्यामी परमात्मा, स्वस्वभावो वा।" (यजुर्वेद, ४.१५)। इस प्रसंग में 'अतति' शब्द निरन्तर गतिशीलता का परिचायक है। उणादिकोष में "**अत्–सातत्यगमने, मनिण् प्रत्ययः (सातिभ्यां मन्निमनिणौ)।**" (उ०को०, ४.१५३)। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार आत्मा 'अन्तःप्रविष्टः (सर्वान्तर्यामी) एवं लोगों का शिक्षक है' –"**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।**" (तै०आ०,३.११.१–२)। ऐतरेय आरण्यक में "आत्मविलास" अर्थ में ' पृथिवी, वायु, आकाश, जल तथा नक्षत्र आत्मा के पञ्चविध अभिव्यञ्जक विलास हैं – '**पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतीषीत्येष वा आत्मोक्थं पञ्चविधम्।**" (ऐ.आ., २.३१) ऐतरेय आरण्यक का यह वचन तैत्तिरीय उपनिषद् (२.१) में भी यथावत् दर्शनीय है।

वैदिक ज्ञानकाण्डभूत उपनिषद्वाङ्मय में भी 'आत्मविलास' अपनी चरम सीमा पर है। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार ' यह आत्मा ब्रह्म है' "**अयमात्मा ब्रह्म।**" (बृह०,उ०, २.५.१९, ४.४.५)। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार 'आत्मा से ही यह सर्वस्व उत्पन्न हुआ है'–"**आत्मत एवेदं सर्वम्।**" (छा०उ०,७.१६.१)। केनोपनिषद् में ' जीव आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करता है'–"**आत्मना विन्दते वीर्यम्।**" (के०उ०,२.४)। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार अनन्तविलास सम्पन्न यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय एवं ध्यान योग्य है। "**आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:।**"(बृ०उ०, २.४.५., ४.५.६। वहीं पर 'यह सब यह आत्मा ही है'–"**इदं सर्व यदयमात्मा।**"। (बृ०उ०, २.४.६)। कठश्रुति के अनुसार 'यह आत्मा ही वह (ब्रह्म) है' – "**एतद् वै तत्।**" (क.उ०,२.१.३)। 'यह आपका आत्मा अन्तर्यामी अमृत है'–"**एष त आत्मान्तर्याम्यमृत:।**" (बृ०उ०, ३.७.२३)। आपका यह आत्मा सर्वव्यापी है' – "**एष त आत्मा सर्वान्तर:।**" (बृ.उ०, ३.७.२३)।

कठश्रुति शाङ्करभाष्य के अनुसार इस 'आत्मविलास' – दर्शन कामियों एवं स्थूलमतिवालों के लिए दुर्विज्ञेय। – "**दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभि: प्राकृत पुरूषै:।**" (शा० भा०, क.उ०, १.२.२१)। तद्विपरीत यह आत्मतत्त्व सर्वदा सत्य, तप, यथार्थज्ञान एवं ब्रह्मचर्य से ही पाया जा सकता है'– "**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।**" (मुण्डक उ० ३.१.५)। श्वेताश्वतरोपनिषद् के मत में 'दूध में व्याप्त घृत की भान्ति आत्मा को सर्वव्यापी जानना चाहिए' – "**सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।**" (श्वे० उ०, १.१६)।

आद्यजगद्गुरू भगवान् श्रीशङ्कराचार्य जी ने प्रस्थानत्रयि–भाष्यों में आत्मविलास का विषद् विवेचन किया है। कठोपनिषद् शाङ्कर भाष्य के अनुसार "आत्मसाक्षात्कार हेतु यहीं (इस लोक एवं शरीर से) प्रयास करना

चाहिए'' – '' **आत्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्यः।**'' (शा.भा., क.उ०, २.३.५।)

उन्हीं के मत में 'आत्मा सबसे अधिक प्रिय होता है,' – ''**आत्मा च प्रियः सर्वस्मात्**।'' (शा.भा. बृ.उ०, २.५.१)। 'जीव का यथार्थस्वरूप उसका आत्मा है' – ''**आत्मा हि नाम स्वरूपम्**।'' (शा.भा०, ब्र०सू०, १.१.६)। भारतीय वाङ्मय एवं दर्शन की सभी धाराएँ इस आत्मतत्त्व एवं इसके अनन्तान्त '' आत्मविलासों'' से ओत–प्रोत हैं।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महामहिम, अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीअमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज की अमृतनिष्यन्दिनी श्रीलेखिनी से परमामृतमय दिव्य, लोक एवं परलोकोपकारक परम शास्त्रीय ग्रन्थों का प्राकट्य हुआ। भगवान् आद्यजगद्गुरू श्रीशङ्कराचार्य के परमोपदेश 'दुस्तर्क से भलिभान्ति बचे तथा श्रुति के अनुकूल तर्कों का अनुसन्धान (प्रयोग) करें। – ''**दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्**।'' (साधनपञ्चकम्, ३) के अनुरूप श्रीचरणों के द्वारा प्रदत्त सम्पूर्ण वाङ्मय आस्तिक्यपरम्पराप्राप्त वेद–शास्त्र एवं तदनुकूल रामायण, महाभारत, पुराण एवं दर्शन परम्परा का अनुगामी एवं परिपोषक है।

प्रकृत ग्रन्थ '' आत्मविलास'' के विषय में पूज्यपाद ग्रन्थकार स्वामी श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी के अपने ही श्रीमुख से सुनाया एक दिव्य संस्मरण यहाँ अत्यन्त प्रासंगिक है, महाराजश्री ने प्रायः इन शब्दों में कहा, '' हमारे आत्मविलास नामक ग्रन्थ के विषय में तत्कालीन कतिपय ईर्षालु लोगों ने (इसकी) शास्त्र–सम्मतता पर प्रश्नसूचक चिन्ह लगाए। तत्कालीन (ग्रन्थरचना के निकट) हरिद्वार के कुम्भ के अवसर पर हम यह ग्रन्थ धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के पास ले गये तथा उनकी सम्मती मांगी। स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज ने यह ग्रन्थ 'आत्मविलास' अपने पास रख लिया। तथा हमें अगले दिन अपने पास आने को कहा। स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज ने इस ग्रन्थ का आद्योपान्त पाठ किया तथा अगले दिन हमसे बोले '' आत्मदर्शन के क्षेत्र में यह ग्रन्थ सर्वथा वेदान्तदर्शन

शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुरूप, अनुकूल स्वात्मानुभवानुसारी है, अभिनन्दनीय है।'' यह कहकर धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज ने 'आत्मविलास' इस ग्रन्थ का शास्त्रदृष्टि से यथोचित मूल्याङ्कन एवं अभिनन्दन किया।''

'आत्मविलास' ग्रन्थमहारत्न के प्रणेता पूज्यपाद, महाकवि, आत्मविद्वरिष्ठ, महायोगी अथच सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र अनन्तश्री स्वामी श्रीअमृतवाग्भवाचार्यजी महाराज शिव–शक्ति तत्व के अधिकारी एवं आत्म–तत्त्व के परमतत्वज्ञ महापुरूष थे। इन महापुरूष को भगवान् श्रीदुर्वासाजी ने स्वयमेव प्रकटरूपेण ''शाम्भव–योगदीक्षा'' प्रदान की थी। यह महापुरुष–ग्रन्थकर्ता 'चल'(शरीर) एवं 'अचल' (आत्मतत्त्व) निकेत (निवासी) थे तथा आद्यजगद्गुरू श्रीशङ्कराचार्य जी के दादा गुरु भगवत्पाद श्रीगौड़पादाचार्य की दिव्य उक्ति–

''निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निस्वधकारमेव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिंर्यादृच्छको भवेत्।।''

(गौड़पादकारिका, २.३७)

के प्रत्यक्ष प्रमाणभूत सिद्ध महायति(सन्यासी) थे।

परमोत्कृष्टकोटि के इन ब्रह्मर्षि महापुरूष के द्वारा विरचित 'आत्मविलास' प्रणयन पुण्यभूमि कश्मीर स्थित ''हबाल'' नामक ग्राम के निवासी ब्राह्मण श्रीकण्ठभट्ट के अनुरोध पर हुआ। इस ग्रन्थमहारत्न में ग्रन्थकार का परमशास्त्रीय स्वात्मानुभव मुखरित हुआ है। 'आत्मविलास' की एक व्याख्या पूज्यपाद स्वामी श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज के श्रीमुख से सम्वाद–व्याख्यान के रूप में हिमाचल प्रदेश के नालागढ़ के एक ब्राह्मण श्री लब्भुराम जी ने लिख डाली जिसका प्रकाशन इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के साथ (वि०सं० १९९३) में हुआ। इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के अपने प्रास्ताविक में विक्रम संवत् २०३९ ग्रन्थकर्ता पूज्यपाद श्री स्वामी अमृतवाग्भवाचार्य के आत्मभूत, सम्प्रति शिवलोकवासी, विद्वद्वरेण्य, पुण्य–श्लोक, परमतत्त्ववेत्ता, स्वनामधन्य डा० श्रीबलजिन्नाथ जी पण्डित ने आत्म विलास के स्वरूप एवं ग्रन्थकार पूज्यपाद स्वामी जी की परमदिव्यरूपता

का विशद प्रतिपादन किया है। डा० श्री बलजिन्नाथ के अपने ही शब्दों में, "इस ग्रन्थरत्न (आत्मविलास) की विशेष महिमा यह है कि इसमें कल्पनाओं का आश्रय न लेते हुए साक्षात् अनुभूत वस्तुतत्त्व का स्पष्टीकरण सूक्ष्मतर तर्क (वेदशास्त्रानुमोदित तर्क) की शैली से किया गया है। अत: सूक्ष्म विचारशक्ति से सम्पन्न श्रद्धालु जिज्ञासुओं को इस ग्रन्थ का पुन: पुन: मनन करने से आध्यात्म तत्त्व का यथार्थ ज्ञान विकास में आ सकता है।" विज्ञेषु किमधिकम्?"

जिन महापुरूषों ने महाराजश्री पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी से तत्त्व ज्ञान एवं आत्मविलास के दिव्योल्लास को अविकलरूप से प्राप्त किया उनमें से कतिपय पुण्यश्लोक नाम हैं—भरतपुर निवासी श्रीमिश्र गोविन्द शर्मा, अमृतसर के पण्डित श्रीहरिभानु दत्त शास्त्री, जम्मू के विद्वद्वरेण्य डा० श्री बलजिन्नाथ जी पण्डित, दिल्ली के डा० श्री भवानीशङ्कर जी त्रिवेदी एवं उन्हीं के सुपुत्र श्री रविशर्मा जी त्रिवेदी, परमसाधुत्व सम्पन्न पण्डित श्रीदेसराज जी शर्मा, श्रीसीताराम जी (हिमाचल प्रदेश), श्रीरतनलालजी अग्रवाल, श्रीराजकुमार जी अग्रवाल, डा० श्रीमती गिरिजा शर्मा, डा० श्री ब्रजनन्दन शर्मा, श्री वैष्णवदास बक्शी जी, भक्तहृदय श्री रामसिंह जी, महामहिमशाली डा० श्रीनाथ टिक्कू जी, श्रीकृष्णदास जी, श्रीकृष्णकुमार आनन्द जी, श्रीकस्तूरीलाल आनन्द जी श्रद्धेय पण्डित श्री रामरतन जी आदि, यह सभी महापुरूष तथा महाराज श्री की अनन्त भक्तमण्डली उन महामहिमशाली पूज्य गुरुदेव के शुभाशीर्वाद, कृपा एवं अहैतुकी अनुकम्पा से दिव्यानुभवादि से सुसम्पन्न रहे, अधिकारी सत्पात्र एवं सद्धर्मशील रहे। उन महापुरूष की भक्तमण्डली आज भी वैदिक परम्परा प्राप्त वर्णाश्रमानुसारी सत्य सनातनधर्म में परिनिष्ठित है।

परमतत्त्वेत्ता, कृततत्त्वसाक्षात्कार, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, साक्षात्—आत्मविलासी, शरीर स्थिति काल में भी जीवन्मुक्त, परमसिद्ध योगीश्वर, भगवत्कोटि प्रविष्ट, आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम एवं परमनिष्काम पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी

श्रीअमृवाग्भवाचार्य जी महाराज "**आत्मविदाप्नोति परम**" "**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**" अथच "**सोई जानहि जेहि देउ जनाई। जानत तुमही तुमहीं होई जाई**" आदि शास्त्रवचनों के, धर्मसम्राट् स्वामी श्री करपात्री जी महाराज, जगद् गुरूशङ्कराचार्य ज्योतिष्ठीधीश्वर स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज आदि महापुरूषों के अनुरूप, मूर्तिमान स्वरूप थे, हैं एवं रहेगें। इस दिव्यकोटि के इन महापुरूष ने अपने "आत्मविलास" इस ग्रन्थ महारत्न को, भ्रमित जीवों के कल्याणार्थ, मुख्यत: छ: प्रकरणों (आत्मविलासों) में प्रकट किया है। अन्त में उपसंहारात्मक (सप्तम) प्रकरण में आत्मविलास (अपना परिचय) दिया है। सभी प्रकरणों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

प्रथम प्रकरण मङ्गलाचरणात्मक है, इस ही प्रकरण में उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ का संक्षिप्त विवेचन भी प्रस्तुत किया है। मङ्गलार्थ श्रीचरणों ने राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी, श्रीविद्या की अधिष्ठात्री देवी, का "**मोदायैका विजयते सैषा सुरसुन्दरी**" कहकर एवं परमेश्वर – परब्रह्म – परमात्मा – शान्त – शिव – अद्वैत एवं चतुर्थ (तुरीय महातत्त्व) का स्तवन किया "**अभिनवरमणीयं सच्चिनन्दकन्दं .... अधिहृदि परमेशं मौनमेवाऽऽश्रयेऽहम्**।" इन मङ्गलाचरणभिव्यक्तियों के माध्यम से पूज्यश्री ग्रन्थ कर्ता महापुरूष ने आत्मविलास संज्ञक शास्त्र के परमरहस्यात्मक तत्त्व का बीजरूपेण प्रतिपादन किया है।

द्वितीय प्रकरण में वेदशास्त्रानुमोदित युक्ति – तर्क एवं अनुभव के आधार पर परमानन्दकन्द परमतत्व की सच्चिदानन्दात्मकता का प्रकाशन किया है–

" विलासो न स्वतो भिन्नो विलासादपि न स्वयम्।
तदेतत् सच्चिदानन्दमद्वैतं पारमार्थिकम् ।।" (आ॰वि॰, २.२)

पुनश्च सच्च्दिानन्दस्वरूप (परमात्मतत्त्व) के सच्चिदानन्दस्वरूप निरूपण सच्चिदानन्दस्वरूप ने (ग्रन्थकार आत्मतत्वभूत) ने स्वात्मानन्दार्थ निरूपण किया–

"सच्चिदानन्दरूपेण सच्चिदानन्दरूपिण:।
सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वानन्दाय निरूपितम्।।" (आ.वि., २.२५)

तृतीय प्रकरण में परमेश्वर के परमपरिपूर्ण स्वातन्त्रय का स्वातन्त्र्य के विशद् विवेचन के साथ विस्तारपूर्वक प्रतिपादन हुआ है। ''**स्वतन्त्रः सच्चिदानन्दः स्वात्मारामो महेश्वरः**। (आ.वि., ३.१) पारमार्थिक दृष्टि से स्वात्मविज्ञान (वास्तविक आत्मस्वरूप) की पारमार्थिक प्राप्ति ही स्वतन्त्रता है– ''परमार्थतया स्वात्मविज्ञानं हि स्वतन्त्रता।'' (आ.वि., ३.१९)

चतुर्थ प्रकरण में विद्या एवं अविद्या की लीलाओं के माध्यम से परम विलासवती परमेश्वरीय महाविद्या के दिव्य विलास का शास्त्रार्थ शैली (पूर्वपक्ष सिद्धान्त पक्ष) में सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। यह ही महाविद्याप्रकरण सिद्धान्त एवं मङ्गलाचरणात्मक उभयविध है –

''स्वविलासस्वरूपा सा विद्याऽविद्याप्रकाशिनी।

महाविद्या महामाया परिपूर्णा जयत्यसौ।'' (आ.वि.,४.१)

पञ्चम प्रकरण में नैर्मल्य का निरूपण हुआं है। इस प्रकरण में नित्य लीलाविलासिनी पांरमेश्वरी परिपूर्ण–निर्मलता के स्वभाव अथच स्वरूप का विस्तृत वर्णन प्राप्त है। नैर्मल्य के अभाव में अधिकारी (पात्रता) का सदा अभाव रहता है। नैर्मल्य प्राप्त्यर्थ वेदान्तदर्शन में 'नित्य–नैमित्तिक – प्रायश्चित्त – उपासना एवं अनुष्ठानादि की अनिवार्यता है।' लोक एवं शास्त्र प्रसिद्ध परमपरमेश्वर मल से असंस्पृष्ट है– परम निर्मल है– ''**मलाऽस्पृष्टो विजयते परमः परमेश्वरः**।'' (आ.वि., ५.१) संसारोच्छेदकारक ज्ञान ही यथार्थ निर्मलता है–''**ज्ञानं यथार्थं नैर्मल्यं संसारोच्छेदकारणम्**।'' (आ.वि.५.२१)।'' पूर्ण नैर्मल्य अपनी आत्मा से अभिन्न महाविद्यास्वरूप ही है। (आ.वि., ५.२२)

षष्ठ प्रकरण में पूर्णकर्तृत्व निरूपण हुआ है। यहीं पर परमेश्वर के परिपूर्णकर्तृत्व का विस्तार सहित वर्णन हुआ है। इस परमेश्वरीय कर्तृत्व के विलास में सीमित कर्तृत्व एवं आपेक्षिक अकर्तृत्व का अभिनयात्मक वर्णन दृष्टिगोचर होता है। कर्तृता–अकर्तृता से अस्पृष्ट पूर्णकर्ता साक्षी चिन्मात्ररूप अहन्तत्त्व ही परमात्मा 'परः शिवः' है– ''**साक्षी चिन्मात्ररूपोऽहम्परमात्मा परः शिवः**।'' (आ.वि., ६.१.)।

अन्तिम उपसंहारात्मक सप्तम प्रकरण में ग्रन्थकार महापुरुष का संक्षिप्त परिचय प्राप्त है। वहीं पर अनन्तश्री स्वामी श्रीअमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज के इस ग्रन्थ महारत्न " आत्मविलास:" की ग्रन्थकारकृत सम्वाद शैली में प्राप्तटीका के लिपिक श्रीलब्भुराम ब्राह्मण का भी वर्णन है–

"कथिता ग्रन्थकर्त्रैव स्यमेव यथा तथा।
लब्भुरामेण लिखिता भवताद् भवतुष्टये।।"

(आ.वि.,७.३)

इस प्रकार महामहिमशाली महापुरूष, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीअमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज ने सर्वजनहिताय, सर्वजनविमोक्षाय परम शास्त्रीय "आत्मविलास" का मुक्ति सोपानरूप से प्रणयन किया। इस ग्रन्थ का अध्ययन श्रद्धापूर्वक करने से आत्मविलास कल्याणपथगामियों का सिद्धिदायक सिद्ध होगा। गत बहुत वर्षों से यह ग्रन्थ प्राय: अप्राप्य था। श्रीचरणों के अनन्य भक्त एवं महाशिष्य श्रीसेवाराम जी शर्मा ने प्रकृत तृतीय संस्करण प्रकाशित करने में अथक प्रयास किया। यह श्रीसेवाराम जी के सत्प्रयास का फल है। श्रीसेवाराम जी सपरिवार विशेष वर्धापन के पात्र हैं। इस कार्य में उनके सहयोगी श्री डा.ब्रजनन्दन शर्मा, श्रीमती डा.गिरिजा शर्मा व पं. राजेश कुमार पाठक जी भी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रकृत संस्करण भी ग्रन्थकर्ता महापुरूष के करकमलों में समर्पित है। इति शम्।

शिवरात्रि,
फाल्गुन कृ० १४, वि.सं. २०६६
(२२.२.२०१०)

– डा. रघुनाथ शर्मा,
उपाध्यक्ष, अ.भा.धर्मसंघ,
मंत्री, धर्मसंघ विद्यालय, दिल्ली
आचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
पू. उपाध्यक्ष एवं आजीवन सदस्य विद्वदूरकल
श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान।

विषय–सूची

॥ श्रीः ॥

नम्रनिवेदन

कई वर्षों की बात है, हम घूमते घूमते कश्मीर गए थे तथा वहां 'हवाल' नामक गांव में ठहरे थे। वहां के एक ब्राह्मण (कण्ठभट्ट) ने आध्यात्मिक सम्बन्ध में कुछ शङ्का प्रदर्शित की थी। हमने भी यथाशक्ति उसका निवारण किया। उससे हृदय को सन्तोष हुआ। तदनन्तर उसने हमसे प्रार्थना की कि आप संक्षिप्त तथा सरल एक ग्रन्थ लिखें जो सम्पूर्ण आध्यात्मिक शङ्काओं को पूर्णरूप से निवृत्त करे। हमने उसकी प्रार्थना मान ली तथा पांच दिन के समय में ही 'आत्मविलास' नामक यह ग्रन्थ लिख डाला। यहां एक आवश्यक निवेदन यह है कि यह ग्रन्थ केवल स्वानुभव से बनाया गया है। सम्भव है कई लोगों को इसमें प्रतिपादित सिद्वान्त से विरोध रहे। परन्तु किसी कवि की ....

'अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि।'' इस उक्ति के अनुसार स्वतन्त्रमत प्रतिपादक यह ग्रन्थ आदरणीय ही होगा। परप्रत्ययनेयबुद्धि लोगों को अच्छा न लगे तो न सही। इसमें कोई हानि नहीं। अनन्तर कुछ समय के कई लोगों के कहने से हमने इसका अर्थ संवाद रूप में लोगों को समझाया था। वही नालागढ़ (हि०प्र०) के एक ब्राह्मण(लब्भुराम) ने लिख लिया, तथा वही आज आत्मविलास की व्याख्या के रूप में आपके सामने उपस्थित हो रहा है। हम जानते हैं कि इसकी भाषा हिन्दी (भारत की वर्तमान राष्ट्रभाषा) सुललित नहीं है तथा द्विरुक्ति त्रिरुक्ति दोष दूषित भी है। परन्तु यह व्याख्या के ढंग पर लिखी ही नहीं है, इस पर ध्यान देने से वह दोष भी गुंण हो जाएगा। एक बात यह भी है कि हमारा विचार हिन्दी में लिखना था ही नहीं परन्तु हिन्दी प्रेमी लोगों के आग्रह के कारण इसको प्रकाशित किया जा रहा है। संस्कृत में इस पर सुन्दर

भाष्य यथा समय प्रकाशित होगा। वह बड़ा विस्तृत है। अस्तु, पारस के अनुग्रह से लोहा भी सोना हो जाता है। गुणग्राही सज्जनों की दया इस ग्रन्थ को अत्युत्तम बना देगी। अग्रिम संस्करण में इसके बहुत सारे दोष दूर कर दिए जाएंगे। यही इस ग्रन्थ का इतिहास है। अधिक की आवश्यकता नहीं।

यथामति यह ग्रन्थ निर्माण कर संसार को समर्पित किया है। आशा है कि इससे समस्त संसार का आत्मविलास परशिव परमात्मा सन्तुष्ट होकर परम कल्याण करेगा। इति शम्।

माघ कृ० ३० गुरौ — निवेदक :

मौनी अमावस्या — ग्रन्थप्रणेता

१९९३ वि० — अ० वा० आचार्यः

 ।। श्रीः ।। 

प्रार्थना

(सिद्धमहामन्त्रस्वरूपिणी)

प्रभो शम्भो दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयोर्–
भवारण्यादस्माद् विषमविषयाशी–विषवृतात्।
समुद्धृत्य श्रद्धाविधुरमपि बद्धादरकरं
दयादृष्टया पश्यन्निजतनयमात्मीकुरु शिव।।

अर्थ – हे सर्वशक्तिमान् ! समस्त संसार का कल्याण करने वाले कल्याणरूप शिव भगवान्! आप के चरणों में दीन भाव से शरण आए हुए मुझ को विषयरूपी भयंकर विषधर सर्पों से भरे हुए इस संसार रूपी जंगल से बाहर निकाल कर अपनी दयादृष्टि से देखते हुए अपने पुत्र को अपना आत्मीय बना लो। यद्यपि श्रद्धा आदि का मुझे ज्ञान नहीं है, तथापि चारों ओर से भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए शरण में आया हूँ। अतः अपने इस दीन पुत्र को हे शिव! अपने आ स्वीकार करो।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

–)०(–

।। श्रीः ।।

ॐ नमः परमाय

आत्मविलासः*

सुन्दरीसहिता

मङ्गलाचरणम्।

कन्दर्पदर्पशमनी सुमनोवृन्दवन्दिता।
मोदायैका विजयते सैषा सुन्दरसुन्दरी।। १।।

अपने आपको अणु अर्थात् छोटा सा जीव समझने का ही नाम जीव होना या जन्म लेना है। यद्यपि यह भी आनन्द के ही उद्देश्य से किया जाता है, फिर भी अपने पूर्णत्व का बोध भुला देने से पूर्णानन्द से वञ्चित रहना पड़ता है और फिर पूर्णानन्द होने के लि पूर्णत्वबोध करना पड़ता है। पूर्णत्वबोध होने से अणुत्व नष्ट हो जाता है

---

*आत्मा परमेश्वर है, क्योंकि अतनशील अर्थात् गति–शील है। गति र तात्पर्य है परमेश्वरता की बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी लीला। बहिर्मुखी लीला व द्वारा आत्मा सृष्टि आदि पारमेश्वरी कृत्यों का अभिनय करता है और वैस करते हुए ही अपने वास्तविक स्वभाव को लीला से ही भुला भी डाल देत है। बद्ध जीवों के रूप में प्रकट होकर कर्मफल–भोग के नियम के अनुसार जन्ममरण के भंवरों में गोते खाता रहता है। अन्तर्मुखी लीला से वह एक तो समस्त प्रपञ्च को अपने में ही समा लेता है और दूसरे वह अपने भुला डाले हुए वास्तविक स्वभाव को योग आदि के अभ्यास से पहचान लेता हुआ पुनः अपने आप को परिपूर्ण परमेश्वर ही समझने लग जाता है। ऐसी गतिशीलता ही परमेश्वर की परमेश्वरता है, यही उसकी अतनशीलता है और इसी को आत्म–विलास कहते हैं।

अर्थात अणु का मरण हो जाता* है। बस यही सापेक्ष जन्म–मरण अर्थात् सृष्टि और लय का मूल रहस्य है।

इन दोनों के बीच में स्थितिभाव है। यह भी अपेक्षा तारतम्य से दो तरह का होता है, एक लय के बाद अर्थात् जन्म के पहले, और दूसरा जन्म के बाद अर्थात् लय के पहले। वस्तुत: सृष्टि और लय ये दोनों एक ही हैं। तात्पर्य यह कि शिवत्व का लय जीवत्व की सृष्टि और जीवत्व का लय शिवत्व की सृष्टि है। इसी तरह जीवत्व की सृष्टि ही शिवत्व का लय, तथा शिवत्व की सृष्टि ही जीवत्व का लय है। इस बात को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। हां, यहाँ एक बात का और भी ध्यान रखना चाहिये, वह यह कि इन दोनों की स्थिति में एक बोध को भुला देना पड़ता है। जैसे जीवभाव में शिवभाव को और शिवभाव में जीवभाव को। इसी कारण एक शिवत्व स्थिति और एक जीवत्व स्थिति ऐसे दो स्थितिभाव हो जाते हैं। इन सभी तीनों कृत्यों का मूल निग्रह या शक्ति कहलाता है। इसी को विलास कहते हैं और यही अनुग्रह होता है। परन्तु तारतम्य यह है कि एकत्व अन्त:प्रकट हो, और कृत्यत्रय बहि: प्रकट हों, ऐसी आत्मदशा को निग्रह या शक्ति समझना। और कृत्यत्रय अन्त: प्रकट हों और एकत्वबहि:प्रकट हो**, उस आत्मदशा को अनुग्रह या शिव समझना। जब निग्रहाऽनुग्रह दोनों का पूर्ण

** तात्पर्य यह है – परमेश्वर स्वभावभूत परमेश्वरता के विलास से अपनी परिपूर्णता को भूला डालकर संकुचित रूप से प्रकट होकर जीव वा अणु मानो बन सा जाता है। और जीव अपने परमेश्वर भाव को पुन: पहचान कर मानो पुन: शिव बन सा जाता है।*

*** सृष्टि–संहार की अभिव्यक्ति शक्तिभाव है। उसके भीतर शिव भाव ओतप्रोत होकर छिपा रहता है। एक मात्र परिपूर्ण चिद्रूपता शिवभाव होता है और शक्तिभाव उसके भीतर विलीन होकर बीजरूपता में ठहरता है।*

सामरस्य रहता है, अर्थात् गौणमुख्यभाव का सर्वथा अभाव रहता है, तब वही आत्मस्वरूप तत्त्वातीत्, तुर्यातीत, परशिव, परब्रह्म, परप्रकाश, परासंवित् होता है। यह कोई अवस्था नहीं है, न इसका वर्णन हो सकता है। कारण, यहाँ किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता, फिर वर्णन कौन करें? इस अनुभव से कृतकृत्यता स्वयं ही एकरस हो जाती है। अस्तु।

यहां एक बात और भी समझ रखनी चाहिये कि निग्रह और अनुग्रह के तारतम्य से सृष्टि, स्थिति और लय ये तीन कृत्य दो दो प्रकार के हो जाते हैं। ये ही दो प्रकार आपेक्षिक सदसत् कहे जाते हैं। तात्पर्य-यह कि अप्रकट को असत् और प्रकट को सत् कहने की रीति पड़ गई है। एक के लिये जो सत् है, दूसरे के लिये वही असत् हो सकता है। परन्तु ऐसी दृष्टि निर्णायक नहीं हो सकती। निर्णय तो समदृष्टि ही कर सकती है। समदृष्टि को ही शम्भु कहते है। इस तरह 'सत्', 'असत्', 'चित्', 'अचित', सुख = आनन्द', 'दु:ख=अनानन्द' ये छ: हो जाते हैं। ये सब आपेक्षिक हैं और यहाँ तमाशा यह है कि ये दोनों साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं और साथ ही मरते भी हैं*। यह सब एक विलास की सन्तति है सन्तति क्या वही विलास ही समझो, और यह विलास या आत्मस्वरूप ही ओर से छोर तक समरस भरा रहकर अपना आनन्द लूटता है, और यही परशिव है। तथा यही तत्त्वदर्शी है।**
अस्तु।

---

* *क्योंकि दोनों का आविर्भाव एक दूसरे की अपेक्षा से ही होता है।*

** *आत्मा का वास्तविक साक्षात्कार आत्मा को ही होता है। क्योंकि साक्षात्कार की दशा में चित्त का भी लय हो जाता है। शेष एक शुद्ध असीम और परिपूर्ण चैतन्य ही रह जाता है, वह चैतन्य परशिव ही होता है। वह एक होता है, क्योंकि वहाँ प्रमाता प्रमाण और प्रमेय का भेद नहीं रहता।*

इससे अब मालूम हो गया होगा कि वस्तुतत्त्व क्या है। बस इसी रहस्य के प्रकट अनुभव के लिये समस्त है। जब आत्मानन्द के लिये जन्म लिया और आनन्द के लिये ही जीवता प्रकट की, और फिर आनन्द के लिये ही 'कोऽहं' 'कोऽहं' की रट लगाई, तब आनन्द के लिये ही मरण लिया, और जीवता मिटाई, और फिर आनन्द के लिये ही 'सोऽहं' 'सोऽहं' की रट लगाई। ऐसी वस्तुस्थिति है और यही ग्रन्थप्रणयन का बीज है। हां, इस बात को न भूलना चाहिये कि शिवभाव और जीवभाव इन दोनों का पूर्णबोध या पूर्णलय हुए बिना पूर्णशिवभाव नहीं होता। + पूर्णशिवभाव प्रकट होने से आत्मरहस्य खुल जाता है। फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। इस पूर्णशिवभाव की अतिदृढ़ता वर्णन से बाहर है। अस्तु।

यहां तक के विवेचन से यह मालूम हो ही गया होगा कि ग्रन्थ प्रणयन में क्या कारण होता है × तथा उस का फल क्या होता है। एक बात और भी समझ लेनी चाहिये, वह यह कि

+ *क्योंकि ये दोनों ही भाव आपेक्षिक है। आपेक्षिक भावों के आभास से पूर्ण परशिवभाव ढका रहता है। अत: इन दोनों के विलीन हो जाने पर ही वह पूर्ण परशिवभाव स्फुटतया चमक उठता है।*

× *अपने विलास से छिपाए हुए आत्मस्वरूप को पुन: प्रकाशित करते हुए उसके आभिमुख्य से अभिव्यत होने वाले आनन्द की अनुभूति की इच्छा ही ग्रन्थ प्रणयन का कारण होता है। इसको परमेश्वर की अनुग्रह लीला का एक विलास माना जाता है। उस असीम आनन्द की अभिव्यक्ति ही ग्रन्थ प्रणयन का फल होता है।*

दर्शनभेद अपेक्षा भेद से हुआ करता है। प्रत्येक दर्शन की अन्तिम भूमिका* एक कल्पित भूमिका रहती है और फिर उसी भूमिका का व्याख्यान साङ्गोपाङ्ग उस दर्शन में रहता है। हां, इस बात को भी समझ लेना चाहिये, कि दर्शन हर एक परम्परया एक ही उद्देश्य रखता है। जिसकी जितनी उच्च भूमि होगी वह उतना ही उच्च होगा। अर्थात् उसके अधिकारी उतने ही उच्च होंगे। अस्तु। सारांश यह है कि हर एक ग्रन्थ दु:खनिवृत्ति और सुख प्राप्ति कराना ही अपना उद्देश्य रखता है। इसीलिए इनको शास्त्र कहते हैं। परन्तु आपेक्षिक प्रवृत्ति–निवृत्ति से पूर्ण दु:खनिवृत्ति या पूर्ण सुख प्राप्ति नहीं हो सकती; और पूर्ण सुख प्राप्ति के बिना पूर्ण शान्ति नहीं हो सकती। अत: यह ग्रन्थ पूर्ण सुख प्राप्ति को उद्देश्य रख कर बना है। अत: कहना न पड़ेगा कि इसके अधिकारी कौन है। हां, इसको बच्चे से बूढ़े तक और म्लेच्छ से ब्राह्मण तक सब पढ़ने के अधिकारी हैं। परन्तु समझ में उन्हीं के आएगा जिनको सद्गुरू से यथाविधि पढ़ने को मिलेगा। आत्मानन्द ही इसमें विषय है। ग्रन्थ और विषय का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, यह क्या कहना होगा? अस्तु।

निर्विघ्न ग्रन्थसमाप्ति होने के लिये और शिष्यों को सदाचार

** किसी किसी दर्शन की वह भूमिका सुषुप्ति की कोई अवान्तर अवस्था होती है। स्वर्गवादियों की वह भूमिका तो स्वप्न दशा से ऊपर नहीं जाती है। न्यायवैशेषिक की अपवर्ग नामक भूमिका, सांख्ययोग की कैवल्य दशा, बौद्धवाद की निर्वाण दशा, तीनों ही सुषुप्ति की अवान्तर भूमिकाएं हैं। साधारण वेदान्तियों की ब्रह्मनिर्वाण दशा में तुर्या के प्रकाश का थोड़ा सा उन्मेष हो जाता है। तुर्या की अवान्तर दशाओं में मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और अकल नाम के सिद्ध विचरण करते रहते हैं।*

की शिक्षा देने के लिये तथा तन्त्र* से सम्पूर्ण शास्त्ररहस्यबीज को प्रकट करने के लिये नमस्कारात्मक वा वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया जाता है–

अभिनवरमणीयं सच्चिदानन्दकन्दं
स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम्।
अनुभवसुरहस्यं मङ्गलं मङ्गलाना–
मधिहृदिपरमेशं मौनमेवाऽऽश्रयेऽहम्।। १ ।।

सभी तरफ से और सभी तरह से जो नया है, इसीलिये जो सुन्दर है। तात्पर्य यह कि कल्पित पदार्थ सब तरफ से और सब तरह से नया नहीं हो सकता। कारण, उसकी नवीनता क्षणिक है। इसीलिये उसको पूर्णरूप से सुन्दर कहना नहीं बनता। अथवा अभिमुख होने से नया होता है,** और नया होने से ही क्रीड़ा करने

** तन्त्र=नानाफलक–समानाकारक–नैकव्यापाराणांमध्ये एकेनैव व्यापारेणानेकफलोत्पादनं तन्त्रम्।।*

अर्थ – नाना प्रकार के फलों को देने वाली तथा समान आकारों वाली अनेकों क्रियाओं में से किसी एक ही क्रिया के द्वारा अनेकों फलों को सिद्ध करना तन्त्र से करना होता है। तो यहाँ मंगला चरण करते हुए ही शास्त्र के रहस्य को भी बीजरूपता में अभिव्यक्ति किया गया है।

*** आत्म साक्षात्कार में अपना ही छिपा हुआ स्वरूप अपने ही सामने जब आ जाता है तो तभी उसके दर्शन से रमण होता है। होता है वह वही सनातन आत्मस्वरूप, परन्तु स्वविलास के द्वारा चिरकाल तक छिपा रहने के अनन्तर जब पुनः अभिमुखता में आकर चमकता है, तो अभिनवतया ही चमकता है। आगे पुनः पुनः चमकता हुआ सदैव अभिनव ही भासता है।*

योग्य है जैसे नौजवान पुरूष को नौजवान स्त्री के तथा नौजवान स्त्री को नौजवान पुरूष के सम्मुख होते ही अर्थात चार चार आँखें होते ही नवीनता मालूम होती हैं। और फिर दोनों परस्पर क्रीड़ा करने के योग्य हो जाते हैं। बस इसी तरह आत्मतत्त्व भी अभिमुख होने से नया होता है, और फिर वह क्रीड़ा करने के योग्य होता है। तात्पर्य यह है, कि आत्मतत्व अपने आनन्द के लिये अपने विलास से जीव और शिवभाव से अर्थात् परतन्त्र और स्वतन्त्र भाव से द्विविध की तरह होकर परस्पराऽभिमुख होता है। तो फिर नया मालूम होने से क्रीड़ा करने योग्य होता है। यह ठीक भी है। अपने आप से बढ़कर सुन्दर भी कोई नहीं और अपने से अधिक क्रीड़ा करने योग्य भी कोई नहीं है। व्यवहार में नित्य ही यह बात दिखाई देती है। देखिये, कितनी भी कुरूप अपनी सन्तति हो पर दूसरे के सुन्दर सन्तान की अपेक्षया अपनी कुरूप सन्तति ही प्रिय लगती है। और क्या, अपनी कीर्ति सुनने में जितना सुख होता है, उतना सुख दूसरे की कीर्ति सुनने में कहाँ होता है। शीशे में अपना मुख देखते हुए जितना आनन्द आता है। उतना दूसरे का मुख साक्षात् देखने में नहीं आता। देखिये, अपने आप को शीशे के द्वारा अभिमुख होने से कैसा अपूर्व आनन्द होता है। क्योंकि आभिमुख्य से नवीनता और नवीनता से सुन्दरता प्रकट होती है। और फिर सुन्दर ही तो क्रीड़ा करने अर्थात् रममाण होने योग्य होता है, क्या यह कहना पड़ेगा? अभिमुख होने से ही स्तुति करने योग्य होता है। और तभी रमणीय अर्थात् सुन्दर या क्रीड़ा करने योग्य होता है।* आत्मतत्त्व यदि अभिमुख न हो

---

* *सदैवाभिनवतया रमणीयम्, आभिमुख्येन वा हेतुभूतेन नवतया—नवीनतया, विचित्रतया सुविशिष्टतया च रमणीयम्, आभिमुख्येन नवतया – स्तुत्यतया वा रमणीयम् अभिमुखतायां च सत्यां सततं नवनवतया न तु पूर्वभुक्ततया रमणीयम्, रमणीयं च रमणार्हम्। सततमनिर्वचनीयेन स्वात्मानन्देन लोकोत्तरचमत्कारकरम्।*

तो स्तुति कौन किस की करेगा? और फिर सुन्दरता को कौन किस की निहारेगा? तब क्रीड़ा तो बहुत ही दूर रह गई न। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा ऐसा खिलाड़ी है कि कहते सुनते ही नहीं बनता, क्योंकि तमाशा अपने आपको दिखाता है, अर्थात् दिखाने वाला और देखने वाला यह स्वयं ही है। इससे यह सूचित कर दिया कि इस ग्रन्थ में निर्वाद अद्वैत समझाया जाएगा। अस्तु। सत्, चित् और आनन्द होता हुआ भी जो इनका मूल भी है। यहां कुछ बातें ऐसी हैं कि जिनको विशेष सावधानी से दिलमें समझ रखना चाहिये। सुनिये –

परमेश्वर नाना रूप से जब चमकता है अर्थात् निग्रहरूप को* निहारता है, तब अनेक रूपों से परस्पराऽभिमुख हो कर तरह तरह की क्रीड़ा करता है। इस क्रीड़ा में करोड़ों ब्राह्माण्डों की सृष्टि स्थिति संहार हो जाते हैं। उसमें संत् चित और आनन्द इन तीनों का ही खेल होता है। ये भी दो दो प्रकार के होते हैं। अर्थात् 'सत्' और 'असत्' ये दोनों अपेक्षा से परस्पर प्रकटाऽप्रकट भाव से सदसत् हो कर विलसित होते हैं।** इसी तरह 'चित्' और 'अचित्' तथा 'आनन्द' और अनानन्द' चमकते हैं। इन्हीं छ: भावों को या प्रकाशों को कहिये प्रतिपादन करने वाले छ: दर्शन

**नाना रूपों से चमकता हुआ अपने अद्वैत, असीम और परिपूर्ण रूप को छिपा देता है। यदि उसे न छिपा दे तो नाना रूपों में प्रकट कैसे हो? परमेश्वर की अपने स्वरूप को छिपा देने की यह लीला ही निग्रह लीला कहलाती है।*

** * प्रकट को सत् और अप्रकट को असत् कहते हैं। तो सत्ता के प्रकट होते ही असत्ता अप्रकट हो जाती है और असत्ता के प्रकट होते ही सत्ता अप्रकट हो जाती है। इस तरह से सत् भी किसी अवस्था में असत् हो जाता है और असत् भी उसी तरह से सत् हो जाता है। आपेक्षिक द्वन्द्वों का स्वभाव ही ऐसा होता है।*

हो जाते हैं। अस्तु। वस्तुत: ये दो दो मिल कर ही अर्थात् पति–पत्नी होकर अपनी खेती की बोवाई, रखाई, तथा कटाई, करते हैं। बहुत क्या कहें, अपने घरके सारे ही गृहस्थी के काम ये ही करते हैं। हां, ये छ: क्या हैं, इनको तीन ही कहना चाहिये। इसीलिये कारिका में तीन ही दिखाये हैं। जैसे दायां और बायां मिलकर शरीर एक ही तो होता है, बस उसी तरह ये दो – दो भी एक–एक ही रहते हैं। परन्तु जब एक समरस होकर चमकता* है, अर्थात् अनुग्रह–स्वरूपको निहारता** है तब यही सच्चिदानन्द का कन्द अर्थात् मूल है। परन्तु इसके भी परे अर्थात् तुर्यासे परे मौन हो जाता है। अस्तु इससे यह सूचित हुआ कि इस ग्रन्थ में इसी विषय का विस्तृत विवरण किया जाएगा। पहले तो यह कहा कि यह परमात्मतत्त्व 'अभिनवरमणीय' है। इसका ध्वनितार्थ यह है कि इसका प्रारम्भ से अन्त तक हर एक पहलू सुखप्रद ही है। मतलब यह कि इस ग्रन्थ में 'परमात्मतत्त्व' ऐसे ढंग से समझाया जाएगा कि अत्यन्त मन्दबुद्धि भी इससे थोड़े प्रयास से ही लाभ उठा सकेगा। बुद्धिमान् की तो भला बात ही क्या है? अस्तु। फिर 'अभिनवरमणीय' क्यों है? इस शङ्का को निवृत्त करने के

---

* *समरसता की अवस्था में सब कुछ परस्पर विरोधी या अवरोधी सर्वथा एक ही रूप में चमकता है। दही, मक्खन, घी, मलाई, खोया, पनीर आदि दूध की अवस्था में समरस एकभाव में ठहरते हैं।*

** *सामरस्य की अवस्था में बन्धन और मोक्ष, सत् और असत् पाप और पुण्य इत्यादि सभी एक रूप में ही चमकते हैं। उनके भिन्न–भिन्न रूप परिपूर्ण एकरूपता में निमग्न होकर बीजभाव से उसमें ठहरते हैं। उसी स्वरूप के दर्शन से उन सभी के वास्तविक तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इस साक्षात्कार को चमकाने वाली परमेश्वर की लीला अनुग्रह लीला होती है।*

लिये ही कहा कि ' सच्चिदानन्दकन्दम्'। ठीक ही तो है, जो सच्चिदानन्दकन्द होगा वही तो अभिनवरमणीय होगा, क्या यह भी कहना होगा? यह 'सच्चिदानन्दकन्द' क्यों है इसका उत्तर देते हैं – 'स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम्'।* अपने आप का नये इसीलिये ** स्तुति करने योग्य विलास से उल्लासन करने में एक मात्र चतुर, तात्पर्य यह कि यह अपने आप विलास स्वभाव होने से सभी तरह से और सभी तरफ से अपने आपको चमकाते रहता है, या चमकते रहता है, बात एक ही है, कुछ भी कहो। इसी कारण अपने नानात्व में सद्‌रूप से, चिद्‌रूप से, आनन्दरूप से, सच्चिदानन्दरूप से, चिदानन्दरूप से, सदानन्दरूप से, सच्चिदानन्दरूप से तथा सच्चिदानन्दकन्दरूप से लक्ष्याऽलक्ष्यभाव से विलास करता है। *** मतलब यह कि अपने आप में ही निमग्न रहता है। जब अपने आप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं तो दूसरी ओर देखना आदि

---

* *यदि परमेश्वर अपने नव नव विलास को सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह की लीलाओं से उल्लसित कराने में स्वभाव से ही प्रवीण नहीं होता, तो कुछ भी होता ही नहीं। एक भयानक – महाशून्य ही होता है। उसमें वह परमेश्वर स्वयं होता भी या नहीं ही होता, कुछ कहा सुना ही नहीं होता, कुछ कहा सुना ही नहीं जाता। अत: उसकी सच्चिदानन्दकन्दता को उसके इस विलसन क्रिया ने ही खड़ा किया है।*

** *नु धातु का अर्थ स्तुति होता है। अत: नव पद से स्तुति योग्यता रूपी अर्थ भी निकलता है।*

*** *सत्ता, चित्ता और आनन्दता में से जब कोई एक भाव अलक्ष्य हो जाता है, तो शेष दो दो लक्ष्यतया चमकते हैं। जब कोई दो भाव अलक्ष्य रहें, तो शेष एक ही लक्ष्य रहता है। तीनों लक्ष्य रहे तो सच्चिदानन्दता प्रकट हो जाती है, परन्तु पूर्णता अलक्ष्य रहती है। उस पूर्णता की अभिव्यक्ति तभी होती है जब सामरस्य प्रकट हो जाए।*

कहां होगा? परन्तु यह आत्मरहस्य सद्गुरू की कृपा के बिना नहीं मालूम होता। इसीलिये इसको वेदादि शास्त्रों में 'प्रणव' कहा है। प्रणव शब्दार्थ ही अर्थात् प्रणवतत्त्वार्थ इस कारिका में प्रकट किया गया है। इसका रहस्य थोड़ा सा सङ्केत से सूचित कर देते हैं। 'अनुभवसुरहस्यम्'* जहां द्वैत की** शङ्का तक नहीं होती, ऐसे अद्वैतरूपी रत्न की जो गुप्त बात है। अथवा पूर्ण अद्वैत से ओतप्रोत भाव से भरे हुए आठ की जो गुप्त बात है। अथवा स्वाऽनुभव की जो गुप्त बात है। तात्पर्य यह कि इस रहस्य को सिवा स्वाऽनुभव के कोई जान नहीं सकता। इसीलिये 'मङ्गलं मङ्गलानाम्' मङ्गलों का जो मङ्गल है : या मङ्गलों में जो मङ्गल है। तात्पर्य यह कि आपेक्षिक मङ्गल और अमङ्गल जहां समाप्त हो जाते हैं, वह परम मङ्गल जिसका स्वरूप है; अर्थात बुरे और भले जितने ही आपेक्षिक भाव हैं वे सम्पूर्ण ही जिसके विज्ञानमात्र से परिपूर्ण मङ्गल हो जाते हैं। इसीलिये जो 'मौन' है। अर्थात् सम्पूर्ण तर्क कुण्ठित हो जाने के कारण चुप

---

* *अनुभ = अद्वैत। वसु = धन = रत्न। वसु = आठ अष्ट प्रकारा मातृका, मातृका के आठ आदि वर्ग। अनुभव = स्वानुभव।*

** *अनुभम् अद्वैतमय यद्वसु—अष्टम्:*

१. *अवर्गादिशवर्गान्तं मातृकावर्णवर्गाष्टकम्*

२. *मातृकाणामेव प्रकाराष्टकम्, त्रिपुरामहिमस्तोत्रे स्तुतं भगवता दुर्वासिसा। पराणां सिद्वीनां वाष्टकम्, मूर्त्यष्टकं प्रकृत्यष्टक वा परमेश्वरस्य। तदेवं प्रकारस्य, सर्वस्याप्यष्टकस्य प्राणप्रदत्वेन यन्मूलभूतं सारभूतं च रहस्यम् सर्वथाप्यनिर्वचनीयत्वेन परमम् रहस्यम्, अवाङ्मनसगोचरं मूलकारणमष्टकजा तस्योति—अनुभ—वसुरहस्यम्। अथवा अनुभम् – अद्वैततत्त्वाख्य, वसु = रत्नं, तस्य परमरहस्यम्।*

हो जाते हैं। अथवा सम्पूर्ण गुह्य होने के कारण जो मौनस्वरूप है। अथवा मुनियों का अर्थात् मननशीलों का जो प्रेमसर्वस्व है। तात्पर्य यह कि मननशील पुरूष ही इसके स्वरूप के पाने के अधिकारी हो सकते हैं ऐसे परमेश्वर का हृदय में आश्रय लेते हैं। अथवा जो 'अधिहृत्' = उत्कृष्ट स्थान है। तात्पर्य यह कि सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह, इन पांचों कृत्यों के बीज मयूराण्डरसन्यास से अर्थात् पूर्ण समरसभाव से रहते हैं, ऐसा अधिष्ठान है, और इसीलिये जो 'इपरमेश' है, अर्थात् इच्छा और ईशिता शक्तियों के पतियों के सामरस्यात्मक है; अथवा शिवविष्णुसामरस्यात्मक* है। अथवा कामकला** अर्थात् पूर्ण स्वभाव शक्ति परम कल्याणरूप जिसमें ओतप्रोत भाव*** से भरी

---

*' –इ' से दोनों इ और ई लिए जाते हैं। 'इ' इच्छा है और उसकी अभिव्यक्ति विश्व सिसृक्षा के रूप में शिव में होती है। 'ई' ईशना है। उसकी स्फुट अभिव्यक्ति त्रिलोकी पर शासन करने वाले भगवान् विष्णु में होती है।

** इ वर्ण कामकला बीज का प्रधान वर्ण होता है। उस बीज से अभिव्यक्त परमेश्वरता परशिव में ओत–प्रोत भाव से रहती है।

***हृदये इत्यधिहृत्। हृदयकमलस्थाने इति। इ–परमेशम्–इ वर्णे–नाभिव्यज्यमाना या पारमेश्वरी पराशक्तिस्तस्या आवेशेन युतम् अनुत्तरं परमशिवम्, न तु शान्तब्रह्मवादसम्मतम् अनाश्रितप्रायमिव शून्यकल्प किमपि अवरं तत्त्वम्, अपितु परिपूर्णया परमेश्वरतया सत्ततम् आविष्ट सत् सततं स्वविलासोल्लासनलीला–परं स्वतन्त्रम् सदाशिवादीनाम् ईश्वराणामपि महेश्वरम् इति।।

अथवा अधिहृत्–पूर्ववद्हृदये इः = पराशक्तिः कामकला, तां पातीति तथाभूतः इपः शिवः। रमाया ईशो विष्णुः। इपश्चासौ रमेशश्चेति तमिपरमेशम्, विष्णुशिवोभयात्मकं परमेश्वरमहमाश्रये इति सम्बन्धः।

रहती है, उस ईश्वर को अहं ग्रन्थकार, अथवा ' अहम्' प्रकाशविमर्शपूर्णज्योति: सामरस्यात्मक ज्योतिर्मय और समस्तवाङ्मयरूप, इस अर्थ में यह 'परमेशम्' का विशेषण है। ऐसे 'मौनम्' गुह्यभूत, स्वत: सिद्ध होने से ही अनिर्वचनीय आत्मतत्त्व का आश्रय लेते हैं, अर्थात् तद्रूप हो रहे हैं। इस कारिका में बीच के पांचों प्रकरणार्थों को सङ्केत से सूचित किया है। जैसे – 'अभिनवरमणीयम्' से सर्वानुस्यूत अद्वैतरहस्य का, 'सच्चिदानन्दकन्दम्' से प्रथम प्रकरणार्थ का, 'स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम्' से द्वितीय स्वातन्त्र्यप्रकरणार्थ का 'अनुभवसुरहस्यम्' से तृतीय महाविद्याप्रकरणार्थ का, 'मङ्गल मङ्गलानाम्' से चतुर्थ नैर्मल्यप्रकरणार्थ का तथा 'अधिहृदिपरमेशम्' से पञ्चम पूर्णकतृप्रकरणार्थ का और 'मौनम्' से सर्वाऽनुस्यूत अद्भुत अनिर्वचनीयता का सङ्केत समझ लेना चाहिये। इस कारिका में और भी कुछ रहस्य है। परन्तु गुरूपरम्परामात्रगम्य होने से वे नहीं लिखे गये। यह कारिका 'अ' से आरम्भ होकर 'हम्' में समाप्त हुई है, इस पर विशेष ख्याल करने से कुछ रहस्य खुलना प्रारम्भ हो जाएगा। अस्तु ॥ १ ॥*

पूर्वकारिका में समस्तशास्त्ररहस्यबीज विद्यमान है। उसको मङ्गलाचरण के व्याज से सूचित करके अब अपने गुरु इष्टदेवता

---

* *सदैवाभिनवतया रमणीयम्। आभिमुख्येन च नवतया विशिष्टतया रमणीयम्। कन्दम्–मूलभूतम्। स्वविलासोल्लासनमेव तस्य परमेश्वरत्वम्। तद्राहित्येन शून्यप्रायत्वमिव स्यात्। अनुभमद्वैतस्वरूपेव यद्वसु = तत्त्वाष्टकम् = आदिशान्तमातृकावर्गाष्टिकम्, पराणां सिद्धीनां वाष्टकम्, अष्टरूपा वा मातृका, इत्येवं प्रायाणामष्टकानामुद्भवस्थानरूपत्वेन परमं रहस्यं–गुह्यं मूलकारणम्। हृदये इत्यधिहृत्, तत्र स्थाने इपरमेशम् = इकाराभिव्यज्यमानशक्त्यावेशयुतमनुत्तरं परमं शिवम्, न पुन: शून्यप्रायमिव कैश्चन प्रख्यापितं ब्रह्मतत्त्वम्, अपि तु परिपूर्णेन पारमैश्वर्येण विलसन्तं परमशिवम्। नु स्तुतौ, इति नवत्वेन स्तुत्यम्।*

आदि का स्मरण करते हैं। जिससे मालूम हो जाएगा कि यह ज्ञान या विज्ञान सद्गुरू सम्प्रदाय से तथा इष्टदेवतासम्प्रयोग से प्राप्त हुआ है। यह मालूम होने से इस ग्रन्थ के पढ़ने वालों को ग्रन्थ की इष्टजनकता में निःसंशयता प्राप्त हो जायेगी। अस्तु। अब इष्टदेवता तथा सद्गुरु का जय जयकार करते हैं, सुनिये—

श्रीराधारूक्मिणीकान्तमहागुरूशरीरिणी।
बालाऽरूणा विजयतेऽज्ञानदाऽहंसरूपिणी।। २।।

श्रीमती राधा और रूक्मिणी इन दोनों का जो कान्त अर्थात श्री कृष्ण, उस श्रीकृष्ण रूपी गुरुश्रेष्ठ का शरीर धारण जिसने किया है, वह यथार्थ—ज्ञान को देने वाली और अयथार्थ ज्ञान का नाश करने वाली हंसरूपिणी अर्थात् अजपा गायत्री स्वरूपा इसीलिये अहं स्वरूपिणी अर्थात् पूर्णहन्तास्वरूपिणी अर्थात् प्रकाश—विमर्शसामरस्याकारा बालसूर्य के समान अरूणवर्ण जो इष्टदेवता बालरूपिणी, वह सर्वोत्कर्ष से विजय के योग्य है। अर्थात् इसी का सर्वत्र सर्वरूप से विजय है।

इति श्री—महामहिम—आचार्य—श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते स्वोपज्ञ—
'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुद्भासिते
आत्मविलासे समस्तशास्त्ररहस्यबीजभूतं
प्रथमं मङ्गलाचरणप्रकरणम्।।

—— : ० : ——

॥ श्रीः ॥

द्वितीयं प्रकरणम्

—— : ० : ——

सच्चिदानन्दस्वरूपनिरूपणम्

स्वात्मानं स्वविलासेन विश्वरूपेण भासयन्।
नित्योदितः कोऽपि देवो जयत्यात्मा परः शिवः ॥ १॥

अपने आप को अपने विलास से विश्वरूप से चमकाने में सर्वदा जिसका उदय ही है, अर्थात् जिसको अनित्य उदय और अस्त ये दोनों विकार कभी नहीं होते, और सर्वदा जो अपने आनन्द के लिये दिव्य क्रीड़ा में लगा हुआ रहता है, वह कोई अनिर्वचनीय अर्थात् किसी भी प्रमाण से सिद्ध न होने वाला होने पर भी सर्वदा जो प्रत्यक्ष ही रहता है, वह कल्याणस्वरूप अपने आप सर्वोत्कृष्ट अपरोक्ष विद्यमान है। इसीलिये उसी का सर्वत्र विजय है॥ १॥

सोऽयं विलास एवाऽस्य शक्तिरित्युदितो बुधैः।
शिवशक्तिस्वरूपाभ्यां व्यवहाराय कल्पते ॥ २॥

वह, यह, इस आत्मस्वरूप का विलास ही पण्डितों से शक्ति नाम से पुकारा या वर्णन किया जाता है। यह विलास ही शिव और शक्तिरूप धारण कर सम्पूर्ण व्यवहार करने के लिये

समर्थ होता है। अर्थात् इस अनन्तकोटिब्रह्माण्ड के जीवनसूत्र का सूत्रधार शिवशक्तिस्वरूप विलास* ही है।। २ ।।

क्या आत्मा विलास से भिन्न है?

विलासो न स्वतो भिन्नो विलासादपि न स्वयम्।
तदेतत् सच्चिदानन्दमद्वैतं पारमार्थिकम् ।। ३।।

विलास आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं, और आत्मस्वरूप विलास से भिन्न नहीं, वह यह परमार्थ वस्तुभूत अर्थात् अन्तिम सारभूत सच्चिदानन्द अद्वैत** है।। ३ ।।

जो प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, उसी विलास के लिये ''यह'' पद लाना, यह तो ठीक मालूम नहीं होता –

तैस्तैर्दार्शनिकैस्तत्तद्रूपेणाऽयं निरूप्यते।
अयमेव विलासोऽस्य स्फुटं सत्योऽनुभूयते ।। ४।।

उन उन जगत् और उसके मूलभूत वस्तु की छानबीन करने वाले दार्शनिकों ने उन उन रूपों से इस जगत् और जगत्

** यदि यह विलास नहीं होता तो कुछ भी नहीं होता, एकमात्र महाभयंकर शून्यता ही होती। परन्तु परमेश्वर का स्वभाव ही विलास है जिसके आधार पर परमेश्वर के भीतर सृष्टि आदि पांच लीलाऐं चल रही हैं।*

*** सृष्टि आदि का विलास ही परमेश्वर की परमेश्वरता है। यदि विलास नहीं होता तो परमेश्वरता भी नहीं होती। परमेश्वरता और परमेश्वर दोनों एक हैं। एक ही तत्त्व को दो भङ्गियों से इन दो शब्दों के उपाय से कहा जाता है। अतः परमेश्वर ही वह विलास है। वह विलास ही उसका तत्त्व है। अतः विलास उससे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं। यह एकता ही अद्वैत है।*

के मूल का निरूपण तरह तरह से किया है। यही तो इस आत्मस्वरूप का स्वरूपभूत विलास साफ साफ तौर पर सच्चाई से अनुभूत हो रहा है।। ४।।

आत्मा और आत्मा का विलास ये दोनों यदि एक ही हैं, ऐसा मान लिया जाए तो व्यवहार हो नहीं सकता, क्योंकि घट और पट इत्यादि परस्पर विरोधी वस्तुएं एक हो नहीं सकतीं–

अपारमार्थिके द्वैते विरोधोऽस्ति मिथो यदि।
नाऽनेन हानिः काप्यस्ति स्वात्मनोऽद्वैतरूपिणः ।। ५।।

कल्पित अर्थात् नहीं के समान द्वैत में यद्यपि परस्पर विरोध है, यह बात ठीक है, तो भी इस विरोध से वस्तुतः अद्वैतस्वरूप अपने आप की किसी भी प्रकार की हानि नहीं है, और न हो सकती है।। ५ ।।

जैसे –

मिथो भिन्ना भासमाना भङ्गबुद्बुद्वीचयः।
सागरस्य स्वरूपस्य विघाताय भवन्ति किम्।। ६।।

परस्पर भिन्न रूप से अर्थात् विरोधी रूप से, वस्तुतः वैसे न होने पर भी वैसे दिखाई देने वाले बुलबुले, भङ्ग, वीचि, अर्थात् छोटे–बड़े सब तरह के तरङ्ग समुद्र के स्वरूप का क्या विनाश कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि ये छोटे बड़े सब तरह के तरङ्ग परस्पर भी अलग अलग तरह से और समुद्र से भी पृथक् तरह से केवल देखने में तो आते हैं, फिर भी समुद्र के स्वरूप की किसी प्रकार की भी हानि नहीं कर सकते। कारण यह कि समुद्र से या परस्पर से अलग वह हो ही नहीं

सकते। क्योंकि परस्पर विरोधिता अर्थात् इनका यथार्थ रूप से अपना अलहदापन, कल्पित मात्र ही होता है, वस्तुतः नहीं है।। ६।।

प्रत्युतैषां विरोधेन स्वसत्तैव मुहुर्मुहुः।
चिद्रूपाऽऽनन्दरूपेण विश्वरूपा विलासति ।। ७।।

बल्कि उलटा इनके अर्थात् छोटे बड़े और सबसे बड़े तरङ्गों के परस्पर और समुद्र के विरोध से आत्मसत्ता ही जो कि चिद्रूप है, वह आनन्दरूप से बार–बार कल्पित स्वरूप विश्वरूप होकर विलास हो रही है। तात्पर्य यह है कि, इन तरह तरह के विश्वरूप विरोधी भावों से अपने आपकी सत्, चित् और आनन्द रूप की सत्ता एकाकार विलास को ही प्रकट कर रही है। इस उदाहरण से यह स्वयं सहज सिद्ध हो जाता है।। ७।।

बहुत से दार्शनिक आत्मा है ही नहीं ऐसा कहते हैं, और किसी कदर व्यवहार में यह ठीक भी हो सकता है। परन्तु, यदि यह बात अच्छी तरह से, अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि से विचारी जाए तो बड़ी हंसी आवेगी। क्योंकि –

आत्मनोऽभावमिच्छन्तोऽप्यात्मसत्तां न किं स्फुटाम्।
अङ्गीकुर्वन्ति नो चित्रं स्वविलासोऽयमेव भोः ।। ८।।

आत्मस्वरूप के अर्थात् अपने आपके अभाव की जो दार्शनिक इच्छा करते हैं, क्या साफ तौर पर वे अपना होना सिद्ध नहीं करते हैं? रह गई बात यह कि वे अपनी अप्रकटता को जाहिर करते हैं, जिसमें चाहे कोई अप्रकटता को जाहिर करे या प्रकटता को, पर इन दोनों से अपने आपका होना तो स्वयं ही

सिद्ध हो जाता है,* इसमें भला आश्चर्य ही क्या? अजी! यही तो आत्मविलास है। अर्थात् अपने आपकी अनिर्वचनीय लीला है।। ८।।

यदि यह सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध होता हो, और उसको बुद्धिमान् लोग समझते भी हों, तो भी क्या है? सर्व साधारण तो इस बात को नहीं समझ सकते, इसलिये हम क्यों मानें कि आत्मा है? यह बात आपकी ठीक नहीं है? क्योंकि यद्यपि प्रमाण तो पण्डितों का ही कहा हुआ माना जाता है, तो भी यहां तो छोटे से लेकर सबसे बड़े पण्डित तक को जिस बात का अनुभव हर एक को हो रहा है, वह बात कैसे झूठ हो सकती है? और 'आत्मा है' आपका ऐसा न मानना किस को भला प्रिय जचेगा? सुनिये–

नाहमस्मीति मूढोऽपि नात्मनि प्रतिपद्यते।
किंतु व्यापारकर्तृत्वमात्मन्येवाऽभिमन्यते ।। ९।।

" मैं नहीं हूँ" इस तरह तो कोई मूर्ख भी अपने विषय में नहीं स्वीकार कर सकता, बल्कि उलटा वह तो तरह–तरह की क्रियाओं का करने वाला " मैं हूँ" ऐसा बड़े अभिमान के साथ लोगों को, साथ साथ अपने आपको जतलाता रहता है ।। ९।।

परपस्पर विरोधी काम करने वाले तो महाराज! पृथक्–पृथक् ही हो सकते हैं। यद्यपि समयान्तर के क्रम से परस्पर

** " मैं हूँ" ऐसा कहने से भी आत्मा की सत्ता अभिव्यक्त होती है और " मैं आत्मा नहीं हूँ" ऐसा कहने से भी वह सत्ता प्रकट हो ही जाती है। ऐसा कहने वाला " मैं" शब्द से आत्मा की सत्ता को प्रकट करके ही उसका निषेध करता है। अतः उसकी सत्ता उभयतः स्फुट हो ही जाती है।*

विरोधी काम करते हों, परन्तु एक ही समय में परस्पर विरोधी काम कोई भी कर नहीं सकता। जब यह बात सर्वत: सिद्ध है, तो उससे यह भी माना ही जाएगा कि परस्पर विरोधी धर्म इकट्ठे अर्थात् एक जगह रह नहीं सकते, तो एक ही आत्मा के विषय में भावरूप से और अभावरूप से वर्णन करना, यह असङ्गत सा जान पड़ता है। इसलिये यह बात ठीक नहीं है, कि आत्मा का अस्तित्व या नास्तित्व अर्थात् भाव या अभाव सिद्ध हो।

वाहजी वाह, यह तो पहले जो कुछ भी कहा गया है, वह आपने न सुना कर दिया, अर्थात् वह आपकी समझ में ही नहीं आया। अस्तु। फिर भी 'तुष्यतु दुर्जन:' इस न्याय से फिर हम आपको जवाब देंगे। सुनिये –

पितृमातृसुतभ्रातृकलत्राऽरिसुहृज्जनैः।
संसृष्टः पुरूषः पुत्रादित्वमेकोऽपि विन्दति ॥१०॥

बाप, मां, लड़का, भाई, बहन, औरत, शत्रु और मित्र इन लोगों के सम्बन्ध मात्र से ही एक ही पुरूष पुत्रादिकता को पाता है*, ऐसा देखने में आता है॥१०॥

पुत्रादित्वादिकं सोऽयं नित्यं त्वनुभवन्नपि।
शरीरेणाऽपि भिन्नो न दृश्यो हि स्वात्मना कुतः ॥११॥

** 'एक ही व्यक्ति किसी भी अपेक्षा से पुत्र भी और किसी की अपेक्षा से पिता भी है। इसी तरह से भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के साथ भिन्न–भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की अपेक्षा से वह अकेला ही भाई भी है, बेटा भी है, बाप भी है, मित्र भी है, शत्रु भी है और भी बहुत कुछ है परन्तु है फिर भी एक ही।*

और पुत्रादिकता को वही यह पुरूष सर्वदा अनुभव करता हुआ भी शरीर से पृथक् नहीं देखने में आता, तो फिर आत्मरूप से किस तरह पृथक् देखने में आए?

तात्पर्य यह है कि एक ही पुरूष पुत्र की दृष्टि से पिता और पिता की दृष्टि से पुत्र होता है। परन्तु पुत्रत्व और पितृत्व ये परस्पर विरोधी धर्म उस पुरूष को शरीर से भी पृथक् नहीं करते, और न ही कर सकते हैं। तो आत्मस्वरूप से कैसे पृथक् करें ॥ ११ ॥

'यह है' अर्थात् आत्मा है, यह बात ठीक हुई। और 'सद्रूप है' यह बात भी दिल में तो बैठ गई, परन्तु यह विश्वरूप क्यों होता है? यह शङ्का होती है –

आत्मैक एव सद्रूपः कर्त्तृत्वादिवशादयम्।
चिद्रूपत्वं विमृशति स्वानन्दाय विलासतः ॥ १२॥

एक ही सद्रूप आत्मा कर्तृत्वादि शक्तियों का अभिन्न सञ्चालक अपने विलास से अपने आनन्द के लिये अपनी चिद्रूपता का विमर्श करता है।* अर्थात् मैं चिद्रूप हूँ, इसी बात को इन

** आत्मा स्वयमेव बिना किसी साधन की सहायता से सदैव अहं रूप से प्रकट ही होता रहता है। यह स्वयमेव प्रकाशमान् होते रहना उसकी प्रकाशात्मकता है। इसी को चिद्रूपता भी कहते हैं। फिर उसे यह प्रतीति* **(awareness)** *भी रहती है कि " मैं हूँ" यह उस चिदात्मकता की स्वभावभूत विमर्शन क्रिया है। अत: आत्मा स्वभाव से ही ज्ञान रूप भी है और क्रिया रूप भी है। उसकी इस क्रियारूपता के विमर्श से कर्त्तृत्व और अकर्त्तृत्व रूप द्वन्द्व का आभास उसी के भीतर होता रहता है। उसका फल आनन्द के चमत्कार का आस्वाद होता है। तात्पर्य यह है कि परब्रह्म अपने स्वरूप का विमर्श करते ही विश्व की सृष्टि संहार आदि करता हुआ अपने आनन्द से स्वयमेव चमत्कृत होता रहता है। यह उसका स्वभाव है।*

परस्पर विरोधी कर्तृत्वादि शक्तियों से उनका स्वरूप होता हुआ ही जतलाता है ॥ १२ ॥

पहले तो आत्मा चिद्रूप है, यह सिद्ध करना चाहिये। पश्चात् उसका यह विमर्श करता है, या और कुछ करता है, सिद्ध होना माना जा सकता है, या कहा जा सकता है, इस बात का निर्णय तभी हो सकता है। जब तक इसकी चिद्रूपता ही सिद्ध नहीं हुई, तब तक " यह चिद्रूपता का विमर्श करता है" यह कहना आकाश का फूल सुगन्ध देता है या नहीं, इस विचार के अर्थात् प्रश्न के समान है –

यद्भासाद् दृश्यमाभाति तस्य चित्त्वं न किं स्फुटम्।
पश्याम्यहमिदं सर्वमिति मूढोऽपि मन्यते ॥ १३॥

जिसकी चमक से सम्पूर्ण दृश्य चमकता है, क्या इस बात से साफ तौर पर यह नहीं मालूम होता, कि सम्पूर्ण दृश्य को चमकाने वाला वह सद्रूप आत्मा स्वयं चिद्रूप अर्थात् स्वयं चमकता है।* क्योंकि, यह सम्पूर्ण दृश्य मैं देखता हूँ, अर्थात् मेरे ही प्रकाश से यह दृश्य प्रकाशित हो रहा है। मूर्ख पुरूष भी तो इसी प्रकार मानता है, तो फिर विद्वान भला क्यों न मानें॥ १३॥

आत्मा यदि न चिद्रूपोजडत्वं जगतः कथम्।
नश्यमानस्य जगतश्चिद्रूपत्वं न सिद्धयति ॥ १४॥

** स्वयं प्रकाशमान् होना ही तो चिद्रूपता का लक्षण है। आत्मा तो सर्वत्र स्वयमेव अपनी ही स्वभावभूत महिमा से सदैव प्रकाशमान् ही रहता है। उसकी इस प्रकाशमानता के आधार पर बाह्य और अन्तर विषय भी प्रकाशित होते रहते हैं। अत: आत्मा चिद्रूप है।*

यदि आत्मा चिद्रूप नहीं है, ऐसा ही मान लिया जाए, तो जगत् जड़ है, यह कैसे सिद्ध होगा? जो कहो कि जगत् जड़ नहीं ही है, तो यह बात तो सम्भव नहीं, क्योंकि कल्पित यह जगत् चिद्रूप सिद्ध हो नहीं सकता। तात्पर्य यह जो वस्तु कभी 'है' मालूम होती है और फिर 'नहीं है' ऐसी प्रतीत होती है अर्थात् जो उत्पन्न भी होती है और फिर नष्ट भी हो जाती है, उसको चित् कहा नहीं जा सकता। इस तरह जगत् चित् सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् जड़ होगा। परन्तु जड़ जो जगत् उसका चमकना तो अनुभूत होता है, फिर चाहे आत्मरूप से हो, चाहे और किसी से, परन्तु चमकता है जरूर और जड़ वस्तु का चमकना चित् के ही अधीन हुआ करता है। इसीलिये सम्पूर्ण दृश्य का अभिन्न रूप से चमकाने वाला आत्मा जड़ नहीं हो सकता, अर्थात् जड़ नहीं है, अर्थात् '' चित् है '' यह बात अनायास ही सिद्ध हो जाती।। १४ ।।

यह बात तो मान ली कि आत्मा चिद्रूप है, अर्थात् तरह तरह से अपने आपको चमकाता है, अर्थात् स्वयमेव चमकता है, और वह 'है' अर्थात् वह सद्रूप है, इस बात को तो पुनः पुनः कहने की आवश्यकता ही नहीं मालूम होती। क्योंकि चिद्रूप मानने से ही सद्रूपता सिद्ध हो जाती है। परन्तु यह चिद्रूप हुआ क्यों? अर्थात् इसका उद्देश्य क्या है? यह क्यों अपने आपको तरह तरह से चमकाए और चमके? सुनिए –

आनन्दरूपता चाऽस्य जगद्भासनहेतुना।
स्वानन्दायैव मूढोऽपि कार्यजातं करोति हि ।। १५।।

सम्पूर्ण जगत को चमकाता है इसी बात से तो यह बात सिद्ध होती है कि, आत्मा आनन्दरूप है। कारण कि एक मूर्ख पुरूष भी अपने आनन्द के लिए ही सम्पूर्ण कार्य किया करता है, यह बात निश्चित है। तात्पर्य यह कि, कोई भी मनुष्य जो कुछ काम करता है, उसमें उद्देश्य सर्वदा अपनी आनन्दरूपता का उपभोग

करना ही है, चाहे फिर वह पुरूष मूर्ख हो या विद्वान, बूढ़ा हो या बच्चा, स्त्री हो या पुरूष, और मनुष्य ही नहीं किन्तु पदार्थ मात्र ही आनन्द को उद्देश्य में रखकर ही कार्य करते हैं। यह बात ठीक भी है। क्योंकि अन्तिम सुख की प्राप्ति, जोकि अपने आनन्दरूपता का अनुभव है, वही तो सार है। इसीलिये तो हमारा बारम्बार यह कहना है, कि हमारा अपना स्वरूप सर्वदा और सर्वथा सच्चिदानन्द है। तब यह शङ्का कि सम्पूर्ण जागतिक व्यापारों का उद्देश्य क्या है? यह वृथा ही है।। १५।।

क्यों जी! यह जो आनन्दरूप है, यह बात सिद्ध है, और दुःख की प्राप्ति की इच्छा भी कोई नहीं करता, यह भी बात ठीक है, साथ–साथ यह बात भी ठीक ही है, कि सभी आनन्द को चाहते हैं। परन्तु यह जो जागतिक दुःख है यह क्यों हमने पाया?

ठीक है। शङ्का तो अच्छी है। परन्तु थोड़ी सी अपने अनुभव–दृष्टि की आवश्यकता है। उस अनुभव दृष्टि से इस बात का जरा भी विचार किया जाए, तो यह शङ्का निर्मूल हो जाती है। वह अनुभव–दृष्टि यह है सुनिये–

आनन्द एव पर्यन्तः साऽपेक्षसुखदुःखयोः।
स्वानुभूत्या विमृशतां निश्चितं मतमुत्तमम् ॥१६॥

सापेक्ष सुख दुःखों की, अर्थात् सुख हो तब ही दुःख हो सकता है, और दुःख हो तब ही तो सुख होता है। तात्पर्य यह है कि, सुख दुःख रूपी यह जोड़ा कभी भी अलग नहीं रह सकता। क्योंकि हर एक कार्य दोनों के सांझी से ही हुआ करता है। इसीलिए इन दोनों में विद्यमान और इन दोनों का अधिष्ठान जो आत्मा है वह आनन्द है। क्योंकि इन दोनों की अन्तिम समाप्ति आनन्द में ही होती है। अर्थात् सुख और दुःख इन दोनों का कारण भी और फल भी अर्थात् उद्देश्य एक ही है, और वह आनन्द है।

तब ये दोनों आपेक्षिक सुख दुःख अपने उद्देश्य—स्वरूप जो कि कारण—स्वरूप आत्मानन्द है, वही इनका स्वरूप है। यह बात अपने अनुभव से विचार करने वाले अर्थात् श्रोत्रिय * ब्रह्मनिष्ठ पुरूषों ने अच्छी तरह से निश्चित की है। और इसीलिये यह मत सर्वोत्तम है। ऐसा सिद्ध हो जाता है।। १६ ।।

इसीलिये और तरह से भी आपको हम सुनाते हैं, सुनिये—

निजानुभूतदुःखादिवार्त्ताविवरणे स्फुटम्।
मन्दोऽपि कश्चिदानन्दं विन्दते इति विश्रुतम्।। १७।।

अपने अनुभूत दुःखादि की बातों के वर्णन करते समय एक मूढ़ पुरूष भी किसी अर्थात् अवर्णनीय आनन्द को पाता है। यह बात बहुत ही साफ—साफ प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि दुःख अनुभव करते समय भी किसी खास आनन्द का एक मूर्ख भी अनुभव करता है, ऐसा देखा जाता है। तभी तो किसी के मर जाने पर जोर से रोने वालों को शीघ्र अर्थात् जल्दी शान्ति अर्थात् आनन्द मिल जाता है। अन्यथा दूसरे लोगों को देर से शान्ति होती है। इसी वास्ते अपने दुःख को प्रकट न करने वालों के हृदय सुखी नहीं होते, यह बात तो सभी जानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपेक्षिक सुख और दुःख इन दोनों का निदान अर्थात् आदि कारण और उदर्क अर्थात् उद्देश्य, फल या परिणाम, कुछ भी कह लीजिये, है वह एक ही। और ''क्या है'' अगर यह पूछा जाए तो उसका उत्तर है ''आनन्द'' और वह आनन्द आत्मा है। अर्थात् सुख दुःखादि जितने भी पदार्थ हैं वे सब आत्मानन्द ही हैं।। १७।।

** जिसे शास्त्र—तत्त्व या यथार्थ ज्ञान हो उसे श्रोत्रिय कहते हैं और जिसे ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात् अनुभव होता हो उसे ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है।*

अच्छा, यदि यह सम्पूर्ण विश्व आत्मरूप से उत्पन्न हुआ, जीवित रहा, और उसी में फिर लीन भी होता है; और साथ–साथ आप यह भी कहते हैं, कि यह सम्पूर्ण विश्व आत्मरूप ही है; और वह आत्मरूप सच्चिदानन्दस्वरूप है। तो फिर इस जगत् को जड़ अर्थात् असच्चिदानन्द न कह कर सच्चिदानन्द ही क्यों न कहा जाए? हां जी! यह तो ठीक ही है। हमें तो इसमें कोई आपत्ति ही नहीं, इतना ही नहीं, किन्तु सारे ग्रन्थ में यही तो हमने प्रतिपादन करना है। सुनिये–

सच्चिदानन्दरूपत्वं स्वात्मभास्यतया यदि।
इष्यते दृश्यजातस्य कल्पसाहस्रमस्तु तत् ॥१८॥

यदि अपने आत्मस्वरूप से प्रकाशित होने के कारण सम्पूर्ण दृश्य समुदाय को सच्चिदानन्दरूपत्व आर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप है, ऐसा चाहते हैं, तो वह सम्पूर्ण दृश्य समूह हजारों कल्प पर्यन्त ऐसा रहे। तात्पर्य यह कि, यह तो हमको इष्ट ही है। क्योंकि वस्तुतः ऐसा ही है, अर्थात् सब कुछ परमार्थता से सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं॥ १८॥

यह आत्मस्वरूप जब एक ही है, तदतिरिक्त जब दूसरी कोई वस्तु ही नहीं, तब सत् और चित् आदि विशेषण किस तरह लगेंगे? और कौन लगाएगा? तो फिर भी जब ये लगाए जाते हैं, तो इससे यह मालूम होता है, कि आत्मस्वरूप अवर्णनीय है, ऐसा नहीं, किन्तु वर्णनीय है। और जब यह वर्णनीय है, तब इसका अभिन्न स्वरूप ही काल्पनिक है, ऐसा ही क्यों न कहा जाए?

ठीक है। ऊपर देखने से यह बात ठीक ही जंचती है, परन्तु हमारे कहने का मर्म आप की समझ में नहीं आया। यद्यपि हमने कई तरह से इसका मर्म कहा भी अस्तु। फिर भी एक बार हम समझा देते हैं। सुनिए–

प्रकारताभेदवशाद् भिद्यते हि विशेष्यता
निर्विशेषं निष्प्रकारं कथं वाचा निरूप्यताम्॥ १९॥

प्रकारता के भेद से विशेष्यता* में भेद हुआ करता है। ऐसा नियम है। परन्तु जहां विशेष्यता भी नहीं और प्रकारता भी नहीं, अर्थात् एक आत्मस्वरूप ही है, तब ऐसे आत्मस्वरूप का "ऐसा" और "वैसा" इन दोनों बातों से कहना वाणी से कैसे हो सकता है?

तात्पर्य यह कि, सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप के जगद्रूप से विकसित होने पर, अथवा आभासित होने पर, अर्थात् आत्मरूप से संकुचित होने पर, या अभासित होने पर, ये प्रकारताएं और विशेष्यताएं चमकती हैं। इसी तरह ठीक इनके उलटा होने पर, अर्थात् जगद्रूप से अविकसित होने पर या अभासित होने पर, आर्थात् आत्मस्वरूप से विकसित होने पर, या भासित होने पर, ये सब विशेष्यताएं और प्रकारताएं वाणी के वर्णन से बाहर हो जाती हैं। क्योंकि आत्मस्वरूप का प्रकाशित होना, तो समस्त कल्पित का आत्मस्वरूप से समरस या अद्वितीय हो जाना है। ऐसी हालत में वाणी से वर्णन करना कैसे सम्भव है? ॥ १९॥

क्यों जी! जब प्रकारता के भेद से विशेष्यता में भेद होता है, यह नियम है, तो यहां भी अनेक प्रकारताएं आत्मस्वरूप से ही तो विकसित होती हैं। तब यहां भेद क्यों न हो? भाई! अगर

** ज्ञेय के धर्म रूपी अंश को विशेषण और धर्मी रूप अंश को विशेष्य कहते हैं। जैसे घट रूपी वस्तु में घटत्व विशेषण है और घट विशेष्य है। घट के ज्ञान में उस घटत्व आदि विशेषण अंश को प्रकार और घट आदि विशेष्य अंश को प्रकारी कहते हैं। अत: घट के ज्ञान को घटत्व प्रकारक ज्ञान कहते हैं। ज्ञान ही विषय की सत्ता को सिद्ध करता है। अत: प्रकारता के भेद से ही विशेष्यता का भेद सिद्ध होता है।*

आप यह कहो, कि विशेष्यताएं और प्रकारताएं आत्मस्वरूप से विकसित होती ही नहीं, क्योंकि वहां ये दोनों हैं ही नहीं, लेकिन यह कहना तो आपका असङ्गत ही होगा। कारण, वहां यदि हैं ही नहीं, तो फिर ये देखने में क्यों आती हैं, और सम्पूर्ण विश्व का उपपादन किस तरह होगा? यदि यह कहो कि यह भ्रम मात्र ही है। तो यहां यह शङ्का होती है, कि भ्रम कहते किसको हैं? दूसरी जगह देखी हुई वस्तु को उसके विपरीत जगह देखना या किसी वस्तु को उलटी तौर से देखना, इसी का नाम तो भ्रम है। फिर हम यह पूछते हैं कि यह भ्रम होता किस को है, तो यहां यह बात तो सभी को निश्चित माननी पड़ती है, कि भ्रम जीव को अर्थात् संकुचित–ज्ञानवान को ही होता है। तब हम यह पूछेंगे कि यह भ्रम जीव को किस जगह होता है, अर्थात् इस जगत् का जो भ्रम हुआ, तो यह जगत् पहले कहां देखा था, कि जिसका इसको भ्रम हुआ, बिना देखे तो भ्रम हो सकता नहीं। यदि यह कहो कि आत्मस्वरूप में ही देखा, तो यह मानना पड़ेगा, कि जगत् इसमें पहले था ही। परन्तु ऐसा मानने से आत्मस्वरूप में द्वैतापत्ति आएगी। इस वास्ते हम तो यह कहते हैं, कि भ्रम–वम तो कुछ नहीं, किन्तु यह अद्वैत आत्मस्वरूप ही उन उन कल्पनाओं से अपने आपको अपने आनन्द के लिये उल्लासित करता है। इस वास्ते फिर अद्वैत किस तरह सिद्ध हो, तो सुनिये अद्वैत इस तरह सिद्ध होगा–

मूढानां विदुषां चैव केवलं ग्रहणे भिदा।
आत्मा तु भिद्यते नैव ततोऽद्वैतं प्रसिद्धयति ॥ २०॥

मूर्ख और विद्वान् लोगों के ज्ञान अर्थात् समझ में ही केवल भेद है। वस्तुत: आत्मा में भेद नहीं हो सकता, अत: अद्वैत सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि, समझ के उलट फेर से ही भेद हुआ करता है। इसीलिये तो उनको विद्वान् और मूर्ख ठहराया जाता है। परन्तु समझ के उलट फेर होने पर भी वस्तु में तो उलट फेर

हो नहीं सकता। अत: एक आत्मा में भेद नहीं आ सकता। और दूसरी बात यह भी है, कि मूर्ख और विद्वान् इन दोनों का साक्षी एक ही मानना पड़ेगा। यदि दो मानेंगे तो परस्पर स्वत: प्रकाश और परत: प्रकाश दो में से किसी एक को ही मानना पड़ेगा। उसमें भी जो परत: प्रकाश है, वह तो स्वत: प्रकाश से ही समरस हो जाएगा। तो फिर भी शेष अर्थात् अवशिष्ट एक ही रहेगा। हां, उसको कोई 'है' या 'नहीं है' कह नहीं सकता। क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरा कोई रह नहीं सकता। इसी वास्ते 'अद्वैत' ही सभी तरह से सिद्ध हो जाता है। अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान कि आत्मा एक ही है, और वह सम्पूर्ण कल्पनाओं का समरस अद्वितीय भण्डार है, यही साधन है। अन्त में वह साधन भी साध्य में एकरस हो जाता है। फिर आत्मस्वरूप के पूर्ण सत् होने पर इन प्रकारताओं और विशेष्यताओं की शङ्का का कारण संशय है, और संशय का मूल परस्पर–विरोधी दो ज्ञानों में है; और उन परस्पर–विरोधी दो ज्ञानों का आश्रयस्थान संकुचित ज्ञानवान् जीव है। जब उस जीव की वहां कोई जीवरूप से हस्ती ही नहीं रहती, तो शङ्का कैसे हो? ।। २०।।

तो फिर वह आत्मस्वरूप कैसा है? दूसरी बात यह, कि जब वहां शङ्का ही नहीं हो सकती, अत: उत्तर की भी कोई जरूरत नहीं, तब तत्त्वदर्शियों ने इस आत्मस्वरूप को सच्चिदानन्द क्यों कहा? सुनिये–

मूढं प्रत्युपदेशाय स्वात्माऽयं तत्त्वदर्शिभिः।
सच्चिदानन्दरूपेण भण्यते न तु वस्तुतः ॥ २१॥

मूर्ख को समझाने के लिये ही अर्थात् स्वकल्पित अज्ञान को मिटाने के लिये ही आत्मवित् पुरूष सर्वत: सिद्ध अपने आपको सच्चिदानन्दरूप से कहा करते हैं, वस्तुत: नहीं ।। २१ ।।

जब वास्तव में ऐसा है नहीं तो फिर है क्या?

वास्तवं तत्त्वमेकं तु स्वानुभूत्यैव गम्यते।
अनुभूतिर्हि मूकाऽस्ति ततोऽद्वैतं तदुच्यते।। २२।।

वास्तव में एक अद्वितीय जो तत्त्व है, वह तो अपने आपके ही अनुभव से जाना जा सकता है। और अनुभूति तो निश्चय से गूंगी है। इसलिये हम ऐसा कहते हैं, कि कुछ अद्वैत है। अन्यथा अद्वैत यह कहना भी नहीं बनता।। २२।।

सच्चिदानन्दस्वरूपं सच्चिदानन्दभासितम्।
विश्वोत्तीर्णं विश्वमयमद्वैतं स्वविलासतः।। २३।।

सच्चिदानन्द–स्वरूप परमात्मा से भासित, अत एव सच्चिदानन्द–स्वरूप विश्वरूप और उससे अतीत अर्थात् उसका कन्दभूत अर्थात् आदिकारण–स्वरूप यह अपने विलास से ही अद्वैत है।* तात्पर्य यह कि, सम्पूर्ण विश्व आत्मस्वरूप है। और आत्मस्वरूप विश्वस्वरूप है, अर्थात् अपने विलास से यह अद्वैत स्वयं सिद्ध है।। २३।।

और और दार्शनिक लोग इसको उन उन नाम रूपों से वर्णित करते हैं, तो आपके मत में उन नामों से वर्णन न करने के कारण कोई विरोध तो नहीं है? नहीं, सुनिए–

**परम वास्तविक तत्त्व एक ही है। वह विश्वोत्तीर्ण होता हुआ सच्चिदानन्द कन्द है। वही अपने ही स्वभाव से विश्वरूपता में भी भासित होता है। अतः विश्वरूप में वही है। इस तरह से सब कुछ जब वही है तो अद्वैत ही सिद्ध हो जाता है।*

आत्मा ब्रह्म परः शिवोऽथ परमासंवित् स्वभावोऽथवा
सोमो वा पुरूषोऽपि वाऽथ–
भगवान् कर्त्ताऽथ कर्माऽपि वा।
बुद्धो वाऽथ जिनोऽपि वा
गुरूरथो हानिर्न काप्यत्र मे
तत्तद्दर्शनसिद्धभूरभिमताऽऽ–
नन्दात्मिका पातु माम् ॥ २४॥

कोई लोग उसी सिद्ध वस्तु को आत्मा कहते हैं। इसी वास्ते उन विद्वानों को आत्मवादी कहते हैं। कोई लोग ब्रह्म कहते हैं। उन लोगों को ब्रह्मवादी या औपनिषद वेदान्ती कहते हैं। कोई उसको परशिव कहते हैं। इसीलिये उनको शैव कहते हैं और कोई उसको परासंवित् अर्थात् शक्ति कहते हैं। उनको शाक्त कहते हैं। कोई उसको स्वभाव कहते हैं। उन लोगों को स्वभाववादी कहते हैं। कोई उसको सोम* कहते हैं, अर्थात् शक्तिविशिष्ट शिव कहते हैं। उनको पाशुपत कहते हैं। जो शक्तिविशिष्ट विष्णु ऐसा कहते हैं, वे विशिष्टाऽद्वैतवादी वैष्णव कहे जाते हैं। कोई उसको पुरूष कहते हैं। तारतम्य भेद से वे साङ्ख्य और योगी कहे जाते हैं। हां, भक्त लोग उसको भगवान् कहते हैं। गौतम और कणादमताऽनुयायी उसको कर्ता कहते हैं। मीमांसक लोग अर्थात् जैमिनिमताऽनुयायी उसको कर्म कहते हैं। बौद्ध लोग उसको बुद्ध कहते हैं। इसी तरह जैन लोग जिन कहते हैं। और दूसरे** अपने आपको शिष्य समझते हुए उस आत्मस्वरूप को प्रायः सारे ही

---

* उमया सहितः
स + उमः = सोमः।
** सन्तमत के अनुयायी

तारतम्य भाव से गुरू कहते हैं। हां, परन्तु इसमें हमारी किसी तरह की भी हानि नहीं, बल्कि हम तो उसको सम्पूर्ण दर्शनों की अन्तिम–भूमि आनन्द स्वरूपिणी समझकर उस आत्मदेव को प्रार्थना करते हैं, कि वह प्रभु किसी रूप से हो और किसी नाम से हो, क्योंकि वह सारे नाम और सारे रूप तथा इनके प्रवृत्ति के निमित्त सम्पूर्ण गुण और सम्पूर्ण क्रियाओं का एकरस निदानभूत* है। वह परिपूर्ण परशिव हमारा रक्षण करें, अर्थात् हमें आत्मस्वरूप ही रखें ।। २४।।

सच्चिदानन्दरूपेण सच्चिदानन्दरूपिण:।
सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वानन्दाय निरूपितम् ।। २५।।

सच्चिदानन्दस्वरूप** ने सच्चिदानन्दस्वरूप का सच्चिदानन्दस्वरूप अपने आनन्द के लिए निरूपित किया।। २५।।

इति श्री–महामहिम–आचार्य–श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते
स्वोपज्ञ'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुद्भासिते
आत्मविलासे सच्चिदानन्दस्वरूपनिरूपणं
नाम द्वितीयं प्रकरणम्।

** सभी का मूल कारण वही है। क्योंकि हर एक वस्तु का आविर्भाव उसी से होता है।*

*** निरूपण करने वाले आचार्य स्वयं सच्चिदानन्द ही हैं। तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपनी सच्चिदानन्दरूपता का साक्षात् अनुभव किया है। अत: उनका यह पक्का विश्वास है कि वे वस्तुत: सच्चिदानन्द ही हैं। तभी तो उनके द्वारा किया गया यह सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर की सच्चिदानन्दता का निरूपण सर्वथा यथार्थ समझा जाना चाहिए।*

॥ श्रीः ॥

तृतीयं प्रकरणम्

——):o:(——

स्वातन्त्र्यनिरूपणम्!।

उक्त प्रकरण में अद्वैत निरूपण हो चुका। उसी के प्रसङ्ग में यह बात भी कह दी है, कि अद्वैत होने पर भी उसको सच्चिदानन्द क्यों कहते हैं। तथा इसका कारण भी कह दिया कि वह विलास स्वरूप है। अब शङ्का यह होती है, कि वह विलास स्वरूप आत्मा, स्वतन्त्र है कि परतन्त्र है? यद्यपि यह बात सरसरी तौर पर अच्छी तरह से कह दी गई है, कि वह स्वतन्त्र है, तो यह शङ्का करना वृथा ही है, कि वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र है, परन्तु उसका स्वातन्त्र्य क्या है? और उस स्वातन्त्र्य को पाने के लिए कोई उपाय भी है? इस बात को लक्ष्य कर अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं–

स्वतन्त्रः सच्चिदानन्दः स्वात्मारामो महेश्वरः।
परमोऽहम्महोरूपी स्वविलासो जयत्यसौ ॥१॥

स्वतन्त्र अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थ, तात्पर्य, करे, न करे, उलटा करे, सीधा करे, सब तरह से जो शक्तिमान् है,

अर्थात् सम्पूर्ण शक्तियों का अद्वितीय समरस भण्डार है, तथा इसीलिये जो सच्चिदानन्द कहलाता है, फिर भी अपने आप में ही जो रहता है, क्रीड़ा करता है और चमकता है। इसी वास्ते जिसको महेश्वर अर्थात् सम्पूर्ण–ऐश्वर्य–सम्पन्न कहते हैं। वह यह अहम्महो रूपी परशिव अर्थात् अनन्त–कोटि–ब्रह्माण्डों के कारणभूत भैरवी–भैरव–स्वरूप, अर्थात् विमर्श प्रकाश या निग्रहानुग्रह आदि आदि शब्दों से वर्ण्यमान शक्ति–शिव–स्वरूप का एक अद्वितीय समरस परम कल्याण स्वरूप चतुर्विधवाचामगोचर* अत एव अनिर्वचनीय और अचिन्त्य आत्मविलास–स्वरूप सर्वत: समुत्कृष्ट विद्यमान है। तात्पर्य यह, कि जो कुछ है वह वही है, इसी वास्ते हम उस अपने आप आत्मस्वरूप का जय–जयकार करते हैं। तब इस प्रकरण का यह मङ्गलाचरण और रहस्यबीज है, यह बात इस कारिका से स्वयं ही सिद्ध हो जाती है।। १ ।।

** चार प्रकार की वाणी का विषय न बनने वाला। चार प्रकार की वाणी आरोह क्रम से –*

(१) वैखरीवाणी – जिसे मुख से बोला जाता है और कानों से सुना जाता है,

(२) मध्यमावाणी – जिसके माध्यम से चिन्तन, मनन, विचार, विमर्श, स्वप्न चिन्तन अन्त: कल्पना आदि व्यवहार होते हैं।

(३) पश्यन्तीवाणी – जिसके द्वारा भेदाभेदमयी शुद्ध विद्या की अवस्था में आत्म साक्षात्कार होता है या आत्म–विमर्श होता है।

(४) परावाणी – जिसमें एक मात्र, परिपूर्ण असीम और शुद्ध चैतन्यातमक "अहं" अर्थात् अपने ही आपका विमर्श होता है।

वह स्वातन्त्र्य क्यों चाहिए? अर्थात् इसका उद्देश्य क्या है? और साथ–साथ इसके चाहने का कारण भी क्या है? यह प्रश्न होता है। इसका उत्तर भी सुनिये।

दुःखमूलं पारतन्त्र्यं सुखमूलं स्वतन्त्रता।
अतः सर्वात्मना सर्वैस्तस्याः प्राप्त्यै प्रयत्यताम् ॥ २॥

दुःख का मूल परतन्त्रता है, और इसी तरह से सुख का मूल स्वतन्त्रता है। इसलिये हर एक प्रयत्न से उस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये सब लोगों को प्रयत्न करना चाहिये। तात्पर्य यह कि मूर्ख से भी मूर्ख और विद्वान से भी विद्वान का उद्देश्य " सुख" ही रहेगा। और यह ठीक भी है। क्योंकि सुख के बिना शान्ति कहां? इस वास्ते हर एक का यह स्वभाव ही है, कि उस सुख को प्राप्त करे। परन्तु सुख का साधन यदि मालूम न हो तो सुख कैसे मिलेगा? अतः उस सुख का मूल क्या है? इसके बारे में यह कहा गया है कि उसका मूल स्वतन्त्रता है। और इसी प्रसङ्ग से यह भी कह दिया जाता है, कि छोड़ने के लिये सर्वथा योग्य जो दुःख है, उसका मूल परतन्त्रता है। कारण के हाथ लग जाने से कार्य अनायास ही हाथ लग जाता है। इसीलिये यह कहा गया कि उस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये सब तरह से प्रयत्न करने चाहियें। क्योंकि स्वतन्त्रता कारण है, और सुख कार्य है। स्वतन्त्रता के हाथ आने से ही सुख स्वयं उपस्थित हो जाएगा॥ २॥

स्वतन्त्रता परतन्त्रता की सापेक्ष है। इसीलिये कोई किसी बात में स्वतन्त्र है, तो किसी में परतन्त्र। इस दृष्टि से तो सभी स्वतन्त्र हैं, और सभी परतन्त्र। और स्वतन्त्रता और परतन्त्रता ये परस्पर दोनों विरोधी धर्म एक जगह तो पहले रह नहीं सकते। यदि इनका एकत्र रहना मान लिया जाए तो उस धर्म को परतन्त्र कहना या स्वतन्त्र कहना, इस बात का निर्णय हो नहीं सकता।

या तो यह कहें, कि वे दोनों हैं, तो यह बनता नहीं; और दोनों नहीं हैं, ऐसा कहें, तो 'क्या है'? यह फिर प्रश्न वैसा ही रह जाता है। इसलिये ऐसा भी कहना बनता नहीं, और स्वतन्त्रता के बिना सुख तो मिलता नहीं, और आवश्यकता तो हर एक को सुख की ही है। अत: इस बात का निर्णय करना पड़ेगा, कि वस्तुत: स्वतन्त्र कौन है? सुनिये–

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्विलासवशाऽनुगम्।
स्वप्रकाशः स भगवान् स्वतन्त्रः परमार्थतः ।। ३ ।।

ब्रह्मा से लेकर एक छोटे से छोटे कीड़े मकोड़े या तिनके तक जिसके विलास के अधीन हो कर पीछे–पीछे रहता है, या चमकता है, अर्थात् प्रकाश–स्वरूप है।* स्वयं प्रकाशरूप वह भगवान् अर्थात् षड्विधैश्वर्य सम्पन्न** वह आत्मविलास–स्वरूप अर्थात् परमात्मा वस्तुत: स्वतन्त्र है। तात्पर्य यह, कि पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना पूर्ण सुख मिल नहीं सकता। जब तक

---

* *आत्म चैतन्य का प्रकाश चमकता ही रहता हैं उसी के चैतन्यात्मक प्रकाश के चमकने के पीछे पीछे सब कुछ चमकता रहता है। यदि आत्म प्रकाश स्वयं प्रकाशमान नहीं होता रहता तो सुख आदि आन्तर विषय और नील आदि बाह्य विषय किसके अनुग्रह से चमकते। अत: आत्म प्रकाश ही स्वतन्त्र है और सभी विषयप्रकाश उसके अधीन हैं।*

** *(क) उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।*
वेत्यविद्यां च विद्यां च स वाच्यो भगवानिति।

(ख) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।

आपेक्षिक स्वतन्त्रता रहेगी, तब तक आपेक्षिक परतन्त्रता भी रहेगी, और परतन्त्रता चाहे वह फिर थोड़ी हो या बहुत, जितनी रहेगी उतना ही दुःख भी अवश्य देगी। जैसे कि अगर ब्रह्मा जी के पास जाकर उनको पूछा जाए कि आप दुःखी हो या सुखी, तो वह भी यह जवाब देंगे, कि भाई! कुछ तो सुखी हूँ, परन्तु कुछ दुःखी भी हूँ। क्योंकि विष्णु के अधीन मुझे रहना पड़ता है। इसलिये मैं तो यही चाहता हूँ कि पूर्ण स्वतन्त्र बन जाऊं। तात्पर्य यह है, कि सर्वदा पूर्ण स्वतन्त्रता की ही प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र बनना चाहिये और वह तो अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र तो बस एक भगवान् ही है।। ३।।

इस विवरण से अथवा निरूपण से यह मालूम होता है, कि जीव परतन्त्र ही है, और वह दुःखी है। तो यह जीव क्यों हुआ? दुःख तो कोई चाहता नहीं, और जीव कहना किसको? और वह कब से हुआ? सुनिए–

ब्रह्मादिस्थावरान्तं हि जीवतामश्नुते चिरात्।
परतन्त्रत्वभजनं जीवताप्राप्तिकारणम् ।। ४।।

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से बड़े से बड़े चैतन्य से लेकर छोटे से छोटे जड़ पर्यन्त वस्तुएं जीव कहलाती हैं, और यह जीवता बहुत काल से भुक्ती जा रही है। यह निश्चित है, और जीवता की प्राप्ति का कारण परतन्त्रता की भक्ति करना है। अर्थात् अपने आपको परतन्त्र समझने से सर्वदा 'मैं परतन्त्र हूँ'' इस तरह लगातार दृढ़ अनुसन्धान करने से जीव दशा प्राप्त की जाती है। सारांश यह कि एक परमात्मा को छोड़ कर उसकी कल्पित वस्तु–मात्र जीव है और बहुत ही पुराने समय से है। तथा इसका

कारण परमात्मा का अपने आपको परतन्त्र समझना अर्थात् अपने आप में परतन्त्रता की कल्पना करना मात्र से है* ।। ४।।

अब प्रश्न यह है, कि जब जीव परतन्त्र है, तो शिव भी आपेक्षिक होने के कारण उसको क्या कहना होगा,? सुनिए–

स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता।
शिवः पशुपतिः प्रोक्तो जीवः पशुरितीर्यते ।। ५।।

स्वतन्त्रता का ही नाम शिवता है। और परतन्त्रता का नाम जीवता है। इसीलिये शिव को पशुपति कहते हैं। और जीव को पशु कहते हैं ।। ५।।

दण्डप्रहारः पशुभिः सह्यते हि निरन्तरम्।
पारतन्त्र्यादेव ततो हेया हि परतन्त्रता ।। ६ ।।

इसीलिये पशु सर्वदा दण्ड–प्रहार सहन करते हैं। सहन करते क्या है, उनको सहन करना पड़ता है। कारण, वे परतन्त्र

---

* *तात्पर्य यह है– परमशिव अपनी लीलामयी स्वतन्त्रता से अपने ही भीतर अपने ही आपको जीव रूपता से प्रकट करता रहता है। जिस तरह दर्पण में नील, पीत आदि विविध वर्णों का आभास मात्र होने से दर्पण में कोई विकार नहीं आता, उसी तरह से परम शिव अपने भीतर कोई विकार न लाते हुए ही जीवता को प्रतिबिम्ब की तरह स्वयं अपने विलास से प्रकट करता रहता है। यही जीवता के अवभास का कारण है। इसे प्रकट करते रहने पर भी उस परमशिव में कोई परिणाम या विकार नहीं आता है। वह संसार के प्रकट होते रहने पर या न होते रहने पर भी सदैव अपने स्वरूप में ही ठहरा रहता है। उस परिपूर्ण और शुद्ध स्वरूप से जरा भर भी कभी च्युत नहीं होता है। यह उसकी परिपूर्ण स्वतन्त्रता की महिमा है।*

हैं। परतन्त्रता से ही दण्ड भोगना पड़ता है। तस्मात्, अगर छोड़ने लायक अर्थात् मिटाने लायक कोई वस्तु या बात है, तो वह परतन्त्रता है। सारांश यह कि विश्व में हम यह देखते हैं, कि हमारी इच्छा न होने पर भी दु:ख–आपत्ति रूप दण्ड भोगने पड़ते हैं। इसका कारण क्या है? यदि गूढ़ सार निकाला जाए, तो हमारी परतन्त्रता ही कारण के रूप में सिद्ध होगी। अर्थात् परतन्त्रता ही पशुत्व है। और उन पशुओं के ऊपर अपनी शक्ति चलाने वाला वह स्वतन्त्र है, इस वास्ते वह शिव है। इसीलिये सम्पूर्ण विश्व में अपेक्षाकृत पशुत्व और पतित्व अर्थात् जीवत्व और शिवत्व अर्थात् परतन्त्रत्व और स्वतन्त्रत्व भरा हुआ है। कोई किसी दृष्टि से जीव है, तो कोई किसी दृष्टि से शिव है। परन्तु पूर्ण सुखी अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र अथवा यों कहिये कि पूर्ण शिव अर्थात् परशिव परमात्मा ही पूर्ण स्वतन्त्र है, और वैसा होने के लिये अर्थात् परशिव होने के लिये अपने आप ही कल्पित किये हुए आपेक्षिक स्वतन्त्रता और परतन्त्रता इन दोनों को छोड़ देना चाहिये, अर्थात् इन्हें आप में गला देना चाहिये।। ६।।

सुखाप्तिवाञ्छा हृदये वर्त्तते यदि यत्यताम्।
पूर्णस्वतन्त्रताप्राप्त्यै सैव पूर्णसुखप्रदा ।। ७।।

यदि आपके हृदय में सुख को पाने की इच्छा है, तो पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये यत्न करिये। क्योंकि वही अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता ही पूर्ण सुख की देने वाली है।। ७।।

हां, परन्तु पूर्व कारिका से यह तो नहीं मालूम हुआ कि शिवता झूठी है, या सच्ची, उसकी स्वतन्त्रता का निरूपण करने से तो यही मालूम हुआ कि शिवता ही स्वतन्त्रता है और अर्थात् उसे प्राप्त करना चाहिये, यह तो बे–रोक–टोक कहा जा सकता है। परन्तु यहां प्रश्न यह होता है, कि जीव का सापेक्ष शिव तो सापेक्ष होने के कारण पूर्ण स्वतन्त्र नहीं, अर्थात् वह भी परतन्त्र है। तब

तो शिवता प्राप्त करना भी परतन्त्रता ही प्राप्त करना है। हाँ, ठीक है यह बात सुनिये–

जीवता शिवता चैव सापेक्षा स्वविलासतः।
अपारमार्थिकी नूनं कल्प्यते स्वात्मनैव हि ॥ ८॥

जीवता और शिवता भी निश्चय से सापेक्ष ही है। और यह निश्चय से झूठी भी है, क्योंकि यह कल्पित है। अपने आप आत्मविलास–स्वरूप ही ऐसी कल्पना करता है। तात्पर्य यह कि दोनों सापेक्ष–भाव कल्पित हैं, अतैः एव असत्य भी हैं, और इनका मूल आत्मविलास–स्वरूप अपने आप परमात्मा ही है॥ ८॥

तो फिर हम, जो कि अपने आपको जीव या शिव समझते हैं, वह क्या है? कारण, बिना अपने आपका पूर्ण–रूप से निर्णय हुए अर्थात् हम किस कोटि के हैं, इस बात का बिना पूर्ण निश्चय हुए, किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना नहीं बन सकता। क्योंकि हम सोचने पर अनुभव करते हैं, कि हम शिव भी हैं, और जीव भी, और दोनों भी नहीं हैं। परन्तु इतने सोचने मात्र से या इतनी बात को महसूस करने से सुख अथवा शान्ति नहीं मिलती। अतः कहना न पड़ेगा, कि इस बात के निर्णय की कितनी आवश्यकता है। अच्छा, इसका निर्णय भी सुनिये–

अवस्थाद्वितयाऽतीतं परिपूर्णं किमप्यहो।
सच्चिदानन्दस्वरूपमहन्तत्त्वं तदस्म्यहम् ॥ ९ ॥

दोनों अवस्थाओं से अर्थात् जीव–दशा और शिव–दशा इन दोनों से अतीत अर्थात् अगोचर और परिपूर्ण अर्थात् सब तरह और सब तरफ से भरा हुआ अर्थात् जीव और शिव इन दोनों सापेक्ष भावों में ओत–प्रोत भरा हुआ, इसी वास्ते अनिर्वचनीय कोई आश्चर्यमय सच्चिदानन्दस्वरूप "अहन्तत्त्व" अर्थात् प्रकाश–विमर्श सामरस्यात्मक वस्तु, वह हम हैं जी! तात्पर्य यह कि मैं परिपूर्ण

परमात्मा हूँ, क्योंकि मैं ही सर्वत्र प्रकाशित होता हूँ, और प्रकाश मेरा स्वभाव ही है, यह आपेक्षिक जीवता और शिवता दोनों हमारी अपने आपके आनन्द के लिये की हुई कल्पनाएं हैं। इसीलिये हम उन कल्पनाओं के अन्दर और बाहर और तद्रस होकर रहते हैं। इसीलिये हमारा स्वरूप सच्चिदानन्द कहा जाता है, और लोग बड़ा ही आश्चर्य करते हैं। वस्तुत: आश्चर्य भी हमसे अलग रह कर जी नहीं सकता। इसलिये किसी भी दृष्टि से देखो, व्यावहारिक दृष्टि से देखो या पारमार्थिक–दृष्टि से देखो हम अनिर्वचनीय ही विद्यमान हैं।। ९।।

पूर्व कारिकाओं में वर्णित आपेक्षिक स्वातन्त्र्य कैसे पाया जाता है? और इसका कारण क्या है? यह शङ्का फिर भी कुछ थोड़ी अवशिष्ट रह ही जाती है। अच्छा इसका भी उत्तर सुन लीजिये। सावधान होकर सुनिये–

सापेक्षतत्तत्स्वातन्त्र्यमीहमानः स्वयं प्रभुः।
सापेक्षमेव लभते स्वातन्त्र्यं स्वविलासतः ।। १०।।

अपेक्षाकृत उस उस स्वतन्त्रता की इच्छा करने वाला स्वयं प्रभु अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ अपने विलास से अपेक्षा–कृत ही स्वतन्त्रता को पाता है। तात्पर्य यह, कि स्वयं सर्वतः समर्थ होने से अपने विलास से ही जैसा चाहे वैसा ही बन जाता* है। और जो चाहे सो प्राप्त कर लेता है।। १०।।

** बन जाने से यहां विकार होना तात्पर्य नहीं है। केवल प्रतिबिम्ब की तरह वैसे–वैसे रूपों में प्रकट होना है। यह समस्त विश्व ही उसकी अपनी ही अनन्त शक्तियों का सुविचित्र प्रतिबिम्ब ही है। वह शक्तियां उससे भिन्न नहीं है। अतः सब कुछ वही है।*

परन्तु क्या इसमें अर्थात् आपेक्षिक स्वतन्त्रता में दु:ख नहीं होता? इसको दु:ख तो मानना ही पड़ेगा। क्योंकि पूर्ण–स्वतन्त्रता के बिना पूर्ण सुख कहां? साथ साथ यह बात भी है, कि आपेक्षिक स्वतन्त्रता में जन्म मरण आदि आदि दु:खों की प्राप्ति भी होगी ही। क्योंकि आपेक्षिक स्वतन्त्र जीव हुआ करता है। और वह जीव चाहे ब्रह्मा हो, चाहे कीड़ी मकोड़ी, पर फिर भी परतन्त्रतामूलक दण्ड–प्रहार तो उसे सहना ही पड़ेगा। तो यह दु:ख किस तरह दूर हो? सुनिये इसका भी उत्तर सुनिये–

कल्पिते जन्मनिधने कल्पितां जीवतां तथा।
स्वात्मविज्ञानमात्रेण विलाप्य सुखमश्नुताम् ।। ११ ।।

देखो जन्म और मरण ये तो दोनों कल्पित हैं। क्योंकि जीव–दशा भी कल्पित है। इसीलिए जन्म मरण और जीव–दशा इन सभी को अर्थात् जो जो कल्पित है, उस सबको अपने आपके अनुभव से ही अर्थात् अपने स्वरूपाऽनुभव से ही गला कर सुख भोगो* ।। ११ ।।

आत्मिक–विज्ञान–मात्र से गला कर ऐसा क्यों कहा? ऐसा ही क्यों न कहा, कि जीवता को छोड़ दो और शिवता को ले लो। या ऐसा ही कहते कि जीवता और शिवता इन दोनों को छोड़ दो और आत्मस्वरूप को ले लो। हाँ, पर ऐसा हो नहीं सकता। कारण सुनिये–

वस्तुद्वयं यत्र तत्र हानोपादानवर्णना।
हानं वा समुपादानं स्वात्ममात्रे कथं भवेत् ।। १२ ।।

* इस समस्त प्रपञ्च को स्वात्मरूपता से ही अनुभव करना इसको गला देना होता है।

जहां पर दो वस्तुएं होती हैं, वहां पर छोड़ना और लेना इन बातों का कहना या सुनना या वर्णन करना यह हो सकता है। परन्तु छोड़ना या लेना ये दोनों बातें एक–मात्र वस्तु से अर्थात् आत्माऽतिरिक्त किसी भी वस्तु के न रहने से ही अर्थात् केवल एक मात्र आत्मा में ही कैसे होगा? तात्पर्य यह, कि केवल आत्मा में ही छोड़ना और लेना, ये दो बातें कैसे हो सकती हैं? अर्थात् इनका सम्भव नहीं। कारण यह, कि कल्पित वस्तु की तो कोई हस्ती ही नहीं होती। तो फिर उनका छोड़ना या लेना कैसे हो सकता है? इसलिये हमने ऐसा कहा कि "कल्पित को गला कर" ॥ १२ ॥

सिंहाऽवलोकन–न्याय से अथवा " द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति" इस न्याय से उक्त बात को परिपुष्ट करने के लिये अर्थात् पूर्वोक्त सिद्धान्त–ज्ञान को दृढ़ता से जमाने के लिये फिर कहते हैं। सुनिये–

चिद्वह्नौ स्वविलासेन कल्पितं विश्वकं हविः।
हुत्वा भजन् स्वमानन्दं जय स्वात्ममहेश्वर ॥ १३ ॥

अपने विलास से सम्पादित विश्वरूपी थोड़ा सा होम–द्रव्य, आत्म–स्वरूप चिद्रूपी अग्नि में होम करके अपने स्वरूप के आनन्द को पाता हुआ ऐ ! आत्मरूपी महेश्वर! अर्थात् पूर्ण–शिव! सर्वदा सर्वोत्कर्ष से विजयवान् रहो। तात्पर्य यह, कि यह अनन्तकोटि–ब्रह्माण्डरूपी होमद्रव्य सम्पादित किया। लेकिन इसके माने यह नहीं कि यह किसी और जगह से मांग लाया, या किसी अन्य वस्तु से बनाया, किन्तु कल्पना–मात्र से ही तैयार किया। यद्यपि है यह थोड़ा सा ही, और यह कल्पना भी हमने आत्मविलासस्वरूप होने के कारण की, तथा इसका होम करने से कोई अनिर्वचनीय आनन्द ही पाया जाता है, क्योंकि वह भी हमारा स्वरूप ही है। इसलिये चिद्रूपी अग्नि में अर्थात् अपने आप में ही होम कर,

ऐ! आत्ममहेश्वर! सर्वदा तुम्हारी जय रहे। क्योंकि सारा ही चरित्र यह अपने आप विलक्षण है। अत: इससे अधिक कौन क्या कह सकता है? और किसको कह सकता है। जहां 'है' और 'नहीं' इन दोनों का होम हो जाता है? और उससे मिलने वाला जो अपूर्व आनन्दाऽमृत, वह भी जहां पच जाता है, वहां सिवा अपने आपके और क्या बच सकता है? बस चुप ही है।। १३।।

अब शङ्का यह होती है, कि फिर लोग जो मोक्ष को पाने की इच्छा करते हैं, और इसीलिये ''मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'' इत्यादि श्रुति–वाक्य भी मिलते हैं, तो इसकी क्या व्यवस्था होगी ? इसका भी उत्तर सुन लीजिये–

स्वात्मविज्ञानसम्पूर्ण: कल्पनाबन्धनान्न हि।
दु:खं समश्नुते तस्मान्मोक्षाऽपेक्षा कथं भवेत्।। १४।।

अपने आपके अनुभव से परिपूर्ण बने हुए महानुभावों को कल्पना के बन्धनों से दु:ख कभी भी निश्चय से नहीं हो सकता। इसलिये वहां अर्थात् उनको मोक्ष की इच्छा कैसे हो सकती है? तात्पर्य यह, कि जिसने अपने आपको परिपूर्ण–रूप से जान लिया, अर्थात् आत्म अनुभव से उस रूप में अपने आपको पहचान लिया, उसको कल्पना से पैदा किये गये बन्धन कभी भी बांध नहीं सकते, यह निश्चय है क्योंकि कल्पित की अपनी कोई हस्ती ही नहीं रहती, यह हम कह चुके हैं। अत: उससे दु:ख कभी भी नहीं हो सकता, तब मोक्ष की इच्छा क्योंकर हो? कारण यह कि, जो बद्ध है, वही मुक्त होना चाहता है। परन्तु जो बद्ध कभी हुआ ही नहीं उसने मुक्त होना क्या? अर्थात् मोक्ष की इच्छा उसको कैसे हो? ।। १४ ।।

देखिये, इसी बात को हम एक लौकिक दृष्टान्त से भी आपको समझाते हैं। सुनिये –

स्वयं सम्पाद्य हर्म्यादि पुत्रादिभ्योऽर्पयन् यथा ।
तदेकदेशं स्वात्मीयं मन्वानो दुःखभाङ् न हि ॥१५॥

स्वयं बड़े बड़े महलात का निर्माण करके, उनको अपने बाल—बच्चों में बांटकर उन मकानों में से किसी एक आध हिस्से को अपने आपके लिये रखकर और यह इतना मेरा है, ऐसा मानने वाला पुरूष दुःखी नहीं होता, यह निश्चय है। तात्पर्य यह कि, जिस तरह कोई बड़ा आदमी पहले अपने पराक्रम से बड़े—बड़े मकानों को सम्पादन करता है। फिर अपने ही पुत्रों में बांट देता है, तथा छोटा सा मकान या कोई बैठक अपने लिये अलग रख कर कहता है, कि बाकी सब बेटों का है, सिर्फ यह बैठक या मकान मेरा है। परन्तु क्या वह दुःखी होता है? कभी नहीं। बल्कि उल्टा वह तो अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ अङ्गों में आनन्द से फूले नहीं समाता॥ १५॥

तब क्योंजी। फिर लोग रोते हुए और हंसते हुए क्यों नजर आते हैं? इसका कारण भी सुनिए—

सुखं दुःखं च तत्तस्य यथा येन प्रकल्पितम्।
परमार्थतया स्वात्माऽतिरिक्तं वस्तु नास्ति हि ॥१६॥

बात यह है कि, सुख और दुःख जैसा जिसने माना अर्थात् जिसने जैसी कल्पना की, वैसे ही उसको सुख दुःखादि है। यह बात तो लौकिक व्यवहार में प्रत्यक्ष ही है। वस्तुतः अगर देखा जाए, तो आत्माऽतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। तात्पर्य यह, कि अपने आपको जैसा चाहे वैसा मान लो। चाहे जीव मानो, चाहे शिव मानो, परन्तु तुम जो हो, सो हो ॥ १६ ॥

अच्छा यह सब कुछ मान लिया। परन्तु अगर जीव—भाव ही किसी का दृढ़ हो चुका हो, तो वह क्या करें? ठीक है, इसका भी उत्तर सुन लीजिए—

जीवभावे दृढे यत्नो दृढः कार्यो मुमुक्षुभिः।
विज्ञानाय स्वरूपस्य नोपायोऽस्ति ततः परम्॥ १७॥

अगर जीव–भाव दृढ़ हुआ है, तो उन मुमुक्षुओं को चाहिये, कि अपने आत्मस्वरूप के अनुभव के लिये दृढ़ प्रयत्न करें। उससे बढ़ कर अच्छा उपाय कोई नहीं। तात्पर्य यह कि जिस तरह अपने ही हाथ से कोई वस्तु कहीं रख दी हो, और फिर ख्याल उतर गया हो, पश्चात् जब उस वस्तु की आवश्यकता हुई तो ढूंढने लगे। परन्तु उस समय वह कहां रक्खी, अर्थात् वह कहां मिलेगी, इस बात का स्मरण न होने से अर्थात् उपाय न मालूम होने से, इधर उधर खोजने लगता है। परन्तु वह तरीका अच्छा न होने के कारण, वह वस्तु मिलती नहीं। और वस्तु के न मिलने से बहुत ही दुःखी होता है। उसी तरह स्वयं अपने आप अपनी कल्पना से ही अपने आपको जीव समझ बैठता है, परन्तु अपने आपको बद्ध समझने के कारण दुःखी होता है। और फिर मुक्त होने की इच्छा करता है। बस बन्ध–मोक्ष की यही उपपत्ति है। तब पश्चात् वह मुमुक्ष, अर्थात् मुक्त होने की इच्छा करने वाला, मुक्त होने के लिये उपाय ढूंढता है। वहां बन्धन दृढ़ हो तो उससे छूटने का उपाय भी दृढ ही होना चाहिये। इस बात को विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। अर्थात् अगर बन्धन दृढ़ है, और छूटना भी उससे चाहते हो, तो प्रयत्न दृढ़ करो। और वह प्रयत्न अपने आपके स्वरूप के पूर्ण अनुभव, अर्थात् पूरी पहचान के सिवा कोई नहीं है। अर्थात् इस उपाय से बढ़ कर अच्छा उपाय कोई नहीं है॥ १७॥

अच्छा, वह अपने आपकी पूरी पहचान किस तरह हो? कोई लोग तो कहते हैं कि यह जगत् परमाणुओं से पैदा हुआ है और वह पहले था ही नहीं, बीच में ही पैदा हो गया। अर्थात् ईश्वर परमाणुओं से जगत् को बनाता है। तात्पर्य यह है कि जो

वस्तु थी, उस वस्तु से नहीं थी, वह वस्तु पैदा हुई। इसलिये हम तो एक कार्य मात्र हैं। अर्थात् हमको ईश्वर ने पैदा किया। अर्थात् पृथिवी आदि के परमाणुओं को जोड़ कर पैदा किया। तो हम अगर परमाणुओं के जोड़ने से ही पैदा किये गये, ऐसा मान लिया जाए तो यह बात हमारे दिल में नहीं बैठती। इत्यादि इत्यादि शङ्काएं बहुत तंग करेंगी, इसलिये हम इसकी असलियत आपको बताए देते हैं, सावधान होकर सुनिये–

आरम्भः परिणामो वा विवर्त्तो वा चिदात्मनि ।
बालान् प्रत्येव विद्वांसं प्रति सर्वं प्रकल्पितम् ॥१८॥

आरम्भ–वाद, परिणाम–वाद, और वैसे ही विवर्त्त–वाद इस चिदात्मा में समझाया जाता है। वे सारे विवाद बच्चों के लिये हैं। विद्वानों की दृष्टि में ये सब कल्पित ही हैं। अर्थात् इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

आरम्भ–वाद का स्वरूप यह है, कि किसी का किसी से बनना। जैसे एक मत ऐसा है, कि पहले कोई वस्तु है, उसने जो वस्तु नहीं थी, उसको पैदा किया। अर्थात् जैसे विद्यमान माता–पिता अविद्यमान पुत्र को पैदा करते हैं। इस बात को कणाद–मताऽनुयायी तथा गौतम–मताऽनुयायी मानते हैं। अर्थात् वे यह कहते हैं कि ईश्वर एक वस्तु–सत् है, और उसने नित्य जो परमाणु–रूप द्रव्य है उससे न रहने वाला अर्थात् असत् जो जगत् है उसको पैदा किया। अर्थात् जगत् परमाणुओं से पैदा हुआ, और ईश्वर ने पैदा किया। इसी तरह से बौद्धादिक कहते हैं, कि जो वस्तु पहले कुछ थी ही नहीं, उससे 'है' ऐसी वस्तु यह जगत् पैदा किया गया

है।* जैसे पहले पुत्र नहीं था, वह अब पैदा हुआ। अर्थात् पुत्र के अभाव से पुत्र अर्थात् पुत्र–भाव पैदा हुआ। इस वास्ते ये भी आरम्भ–वादी ही हैं। परन्तु बौद्धों के मत का खण्डन हम द्वितीय प्रकरण में कर चुके हैं, कि नहीं से 'है' पैदा हो नहीं सकता। अब रह गये दूसरे आरम्भवादी अर्थात् 'है' वस्तु से 'नहीं' वस्तु की उत्पत्ति मानने वाले, उनका खण्डन आगे होगा। फिर भी थोड़ा सा हम यहां समझाए देते हैं। सुनिये, जो वस्तु नहीं है, उसको 'है' वह वस्तु पैदा किस तरह करेगी? कारण यह, कि जो वस्तु नहीं है वह तो सर्वदा नहीं ही है। तात्पर्य यह कि त्रिकाल में भी और प्रातिभासिक** भी उसका ''है–पन'' का सम्भव नहीं। इसीलिये यह मत ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है, कि ईश्वर ने अगर नित्य–द्रव्यरूप परमाणुओं को जोड़कर असत् वस्तु पैदा की, तो हम यह पूछते हैं, कि परमाणुओं को ईश्वर कहां से लाया। अर्थात्

** बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते हैं। तदनुसार जो कुछ भी है, वर्तमान क्षण में ही है। पूर्व क्षण में उसका अभाव था। उस अभाव में से इस वर्तमान क्षण के भाव की उत्पत्ति हो गई। अगले क्षण में यह भाव पुनः अभाव में विलीन हो जाएगा। इस तरह से वे अभाव से भाव की उत्पत्ति को मानते हैं।*

*** कोई वस्तु वस्तुतः होती है। जैसे आत्मा वस्तुतः है। उस वस्तु को परमार्थतया–सत् कहा जाता है। कोई और वस्तु वस्तुतः होती तो नहीं है, परन्तु आभासित होती रहती है। उसकी ऐसी सत्ता को प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। वेदान्त में ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता को मानकर विश्व का आभास कराने वाली माया की सत्ता को प्रातिभासिक सत्ता माना गया है। परन्तु जो वस्तुतः है ही नहीं उसकी प्रातिभासिक सत्ता भी नहीं हो सकती है। प्रतिभास भी उसी का हो सकता है जो है। अतः जो है ही नहीं उसकी सत्ता कभी बन ही नहीं सकती, वही है, जो है।*

उनका कारण क्या है? फिर यदि यह कहो, कि वे तो स्वयं ही बने हुए हैं, अर्थात् ईश्वर उन्हें नहीं बनाता, इसलिये साथ–साथ यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर परमाणुओं से भिन्न है, अर्थात् ये परमाणु भी ईश्वर से भिन्न हैं। तब हम यह कहते हैं, कि ईश्वर परमाणु नहीं है, तो उसमें एक बात की बड़ी भारी कमी आ गई। यदि यह कहो कि, यह अपनी उसकी इच्छा है, तो हम यह पूछते हैं, कि क्या वह परमाणु बन सकता नहीं? इसलिये परमाणु नहीं है? या कि वह ' बनता नहीं' इसलिये परमाणु नहीं है? जो तो यह कहो कि बनता नहीं, तो हम यह पूछते हैं, कि क्यों नहीं बनता? इसका उत्तर तो आपके पास कोई भी नहीं है। और यदि यह कहो, कि बन सकता नहीं, तो हम यह कहते हैं, कि अगर वह बन सकता नहीं तो वह ईश्वर कैसा? क्योंकि ईश्वर शब्द के अर्थ ये हैं, कि सम्पूर्ण–ताकतों वाला, अर्थात् सर्व–शक्तिमान्, फिर अगर परमाणुओं को पैदा करने की इसमें ताकत नहीं, या वह परमाणु बन सकता नहीं, तो वह ईश्वर कैसे कहा जा सकता है? इस वास्ते यह मत ठीक नहीं है। परन्तु आरम्भ–वाद उन ऋषियों ने बहुत ही निचले दर्जे के जीवों को समझाने के लिये कहा है। अत: अधिकारी–भेद से ठीक है। इस वास्ते हम यह कहते हैं, कि यह बच्चों के लिये है। इसके ऊपर के अधिकारियों के लिये परिणामवाद समझाया जाता है। जरा सावधान हो कर एकाग्र–चित्त से सुनिये–

पहले मत में इस सम्पूर्ण विश्व के बनाने वाले ईश्वर की उपासना करने से जीव दु:खों से छूटता है। दूसरे मत में अर्थात् परिणाम–वाद में ऐसी बात नहीं। किन्तु वे कहते हैं, कि प्रकृति और पुरुष इनको अलग–अलग जान लेने से ही मुक्ति हाथ लग जाती है, अर्थात प्रकृति और पुरुष को अलग–अलग रूप से पूरी तरह से पहचान लेना ही मुक्ति का उपाय है। इसी उपाय से सम्पूर्ण दु:ख जीवों के दूर हो जाते हैं। अत: साङ्ख्यवादी कहते

हैं, कि ईश्वर को " है" ऐसे कुछ मानने की जरूरत नहीं। परन्तु उन्हीं साङ्ख्य-वादियों में से अन्यतम कुछ अर्थात् योग-मताऽनुयायी कहते हैं, कि ईश्वर को बगैर माने काम नहीं चलता। अतः ईश्वर को मानना ही पड़ेगा। क्योंकि प्रकृति-पुरुष-विवेक होने पर भी दुःख दूर नहीं होते। परिणाम-वाद का स्वरूप यह है, सुनिये-जो वस्तु है उसका दूसरे रूप में परिवर्तित होकर उसी रूप से दिखाई देना। यह दो तरह का होता है। एक विकृत और एक अविकृत। जैसे विकृत का उदाहरण दूध से दही। इस परिणाम में दही दूध से परिणत होकर एकदम बदल जाता है। अर्थात् दही दूध से गुण दोष आदि सभी बातों में अलग सा दिखाई देता है। सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाए तो मालूम हो जाएगा, कि दही रूपान्तरित दूध के सिवा और कुछ नहीं है। फिर भी उसको देखकर दूध की झलक तक मालूम नहीं होती। इसलिये इसको विकृत-परिणाम या विरूप परिणाम कहते हैं। दूसरा अविकृत परिणाम, जैसे स्वर्ण के कटक कुण्डलादि, या मिट्टी के घट, शराव (कशोरा) आदि। इसमें सोना कुण्डल या कटक में स्पष्ट ही देखने में आता है। इसलिये सोने में कोई भी विकार नहीं हुआ, सोना तो कटक या कुण्डल में केवल रूपान्तरित सोना हो गया। पहले पिण्ड के आकार में था, और अब कटक आदि के आकार में आ गया, परन्तु फिर भी सोना ही बना रहा। इसी तरह मिट्टी और घटादि को समझ लीजिये। यह अविकृत-परिणाम या सरूप-परिणाम होता है इसको मानने वाले यही उदाहरण देकर समझाते हैं, कि प्रकृति, पुरुष के सान्निध्य से उन-उन रूपों में बदल जाती है। कहीं दूध से दही की तरह, और कहीं सोने से कुण्डल की तरह। कुछ भी हो, वे कहते हैं कि प्रकृति स्वयं जड़ होने के कारण स्वयं किसी भी वस्तु को प्रकाशित नहीं करती, या कर सकती। परन्तु पुरुष चेतन है, और प्रकृति के साथ नित्य ही संयुक्त रहता है, और वह पुरुष यद्यपि कमल के पत्ते की तरह पानी में सर्वदा रहते हुए भी पानी से एकदम अस्पृश्य ही रहता

है, तो भी अपने प्रतिबिम्ब को प्रकृति में पड़ा हुआ देखकर प्रकृति से "मैं अलग हूँ" ऐसा न समझने के कारण सुख दुःखादि को चमकाता हुआ और उन्हें अपना समझता हुआ भोगता है। वस्तुतः वे उसके नहीं हैं, न उसके हो सकते हैं। और जो कुछ भी यह सम्पूर्ण जगत् है, यह प्रकृति का ही परिणााम है, ऐसा वे कहते हैं। इस मत को साङ्ख्य, योगी, पाशुपत, वैष्णव आदि बहुत लोग मानते हैं। हां साङ्ख्य मत में पुरुष अनन्त हैं, और प्रकृति एक है। और इन प्रकृति–पुरुषों का विवेक होना ही सम्मूर्ण दुःखों से छूटना है, यह हम कह चुके हैं। परन्तु इस मत में प्रकृति और पुरुष इनका संयोग किसने किया, और इनसे विवेक कौन करता है, इसका उत्तर चित्त को सन्तोष देने वाला नहीं मिलता। कारण यह, कि अगर यह कहें कि पुरुष स्वयं ही अपनी इच्छा से ऐसा कर सकता है, तो यह सम्भव नहीं। कारण, साङ्ख्य–मत में कर्त्तृत्व प्रकृति में है, पुरुष में नहीं। अतः इस मत के मानने से ही काम नहीं बन सकता। और भी बहुत सी बातें हैं, जो कि हम आपको थोड़े में बतलाते हैं, जिससे आप जान जाएंगे, कि यह मत ठीक नहीं है। जैसे प्रकृति को जड़ मानना और साथ–साथ अलग अलग मानना, और उसमें कर्तृत्व मानना, यह परस्पर असङ्गत बातें हैं, जैसे कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है, तो क्या ऐसा हो सकता है? उसी तरह जड़ में कर्तृत्व रह नहीं सकता। इसी तरह बहुत सी परस्पर विरोधी बातें कहने के कारण साङ्ख्यवादी बच्चे ही मालूम होते हैं। परन्तु निचले अधिकारियों को समझाने के लिये तो यह रास्ता भी अच्छा है। इसी बात को समझाने के लिये पतञ्जलि मताऽनुयायी उन अनन्त पुरुषों में से पुरुष–विशेष को ईश्वर मानकर कहते हैं, कि प्रकृति–पुरुष–विवेक ईश्वर के प्रणिधान से होगा। और प्रकृति–पुरुष–संयोग भी उस ईश्वर के कारण ही होता है। अर्थात् वह ईश्वर असली कर्ता है। फिर भी जगत् प्रकृति का परिणाम

है और पुरुष, प्रकृति में अपना प्रतिबिम्ब डालता हुआ सुख दुःख भोगता है। और परिणामवादी एक–पुरुष–वादी हैं। पाशुपतमताऽनुयायी भी परिणामवादी ही हैं। विशिष्टाऽद्वैतवादी रामानुजादि भी परिणामवादी ही हैं। अस्तु। परन्तु परिणाम–वाद से चित्त का ज्ञान होने पर भी उद्देश्य, जोकि आनन्द है, वह नहीं आता। और बहुत से परिणाम–वाद में दोष हैं। अतः यह मत भी ठीक नहीं, जो बच्चों के लिये ही हो सकता है। इस पर और ऊपर वाले लोग सूक्ष्म विचार करते हुए कहते हैं कि विवर्त्त–वाद से अगर दुनिया की पहेली को सुलझाया जाए, तो बहुत शीघ्र ही सुलझाई जा सकती है। वे कहते हैं कि जगत् सच्चिदानन्द परमात्मा में विवर्त्त–मात्र से दिखाई देता है। विवर्त्त–वाद का स्वरूप यह है। अत्यन्त असत् की प्रतीति होना। जैसे सीप में चांदी नहीं होती, या डोरी में सांप नहीं होता, परन्तु धूप के कारण, और अन्धेरे के कारण वहां चांदी और सांप का भ्रम होता है। उसी तरह अज्ञान के कारण परमात्मारूप अधिष्ठान में जगत् का भ्रम जीव को हुआ करता है।

तात्पर्य यह कि रेगिस्तान में गर्मी की धूप में अथाह जल का भास होता है। और तभी सैकड़ों हिरण अज्ञान के कारण उस जल को पीने के लिये दौड़ते हैं। परन्तु जहां जल की बूंद तक नहीं, वहां उन्हें जल कहां से मिले? और इस बात को न समझते हुए छटपटा कर मर जाते हैं। अर्थात् यह जगत् अत्यन्त असत् अर्थात् तीनों कालों में इसकी किसी प्रकार भी सत्यता न सिद्ध होने पर भी अज्ञान के कारण सत्य सा दिखाई पड़ता है। अतः ज्ञान से अज्ञान को हटाने से मोक्ष मिल जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण दुःख दूर हो जाते हैं, ऐसा भी कहते हैं। इन विवर्त्तवादियों में वेदान्ती मुख्य हैं। परन्तु इस मत में भी एक बड़ा भारी दोष है, कि जब अविद्या कोई वस्तु ही नहीं, अर्थात् जगत् अत्यन्ताऽभावरूप है, तो उसकी प्रतीति कैसे? अगर प्रतीति है,

तो प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार करना होगा। और सत्ता को स्वीकार कर लेने पर भ्रम कहना ही भ्रम होता है। अर्थात् " वदतो व्याघात" दोष होता है। इसी कारण विवर्त्त–वाद भी सम्पूर्ण शंकाओं को दूर नहीं कर सकता। बल्कि उल्टा भ्रम–भ्रम चिल्लाता हुआ स्वयं भ्रम–स्वरूप उन अच्छे समझदारों को भी भ्रम के ऐसे चक्कर में डाल देता है जहां से फिर निकलने की कोई सूरत ही नहीं मालूम होती है। यह तो बात " स्वयं नष्टः परान्नाशयति" की तरह ही हो जाती है। यद्यपि पिछले अधिकारियों की अपेक्षा से इसके अधिकारी ऊंचे दरजे के अवश्य होते हैं, फिर भी यह विश्व–पहेली नहीं सुलझा सकते। अतः यह बात भी बच्चों के लिये ही ठीक है। क्योंकि, विद्वान् की दृष्टि में अर्थात् आत्माऽनुभवी पुरुष की दृष्टि में ये सब विवाद कल्पित हैं। और इसका मूल अपने आप चिदात्मा ही है। अपने आपका चिदात्मत्व इन अनेक तरह के कल्पित विवादों से कुछ कुछ जाना जा सकता हैं, वस्तुतः ऐसा भी कहना नहीं बनता। कारण, सापेक्ष जोड़ियां इकट्ठे ही नष्ट हो जाती है, और पैदा होती है। जहां त्रिपुटी अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि, एक–रस हो जाती है, वहां कौन सा वाद हो सकता है, और कौन सा नहीं हो सकता? तथा इस बात को भी कौन जाने? और कैसे जाने? और क्यों न जाने? तथा कैसे न जाने? इनमें से कुछ भी कहना ठीक नहीं बनता। तथापि इसके अर्थ यह नहीं, कि फिर कोई वस्तु ही नहीं रहती। कारण जब त्रिपुटी अपने अपने अलग– अलग स्वरूप से चमकती है, तब सब कुछ

कहना सम्भव हो जाता है। इसीलिये हमने '' चिदात्मनि'' ऐसा कहा* है। अस्तु॥ १८ ॥

यह जो कुछ कहा गया यह सब कुछ ठीक ही है। परन्तु फिर भी हमारा संशय बिल्कुल निर्मूल हो जाए, इसलिये हमें यह मालूम होना चाहिये, कि स्वतन्त्रता है क्या वस्तु? और साथ–साथ यह भी मालूम हो कि परतन्त्रता किसे कहना चाहिये। ठीक है, तो फिर सुनिए–

परमार्थतया स्वात्मविज्ञानं हि स्वतन्त्रता।
अतोऽन्यथा तु विज्ञानं पारतन्त्र्यं प्रकीर्तितम् ॥१९॥

अपने आपका ठीक तरह से अर्थात् वस्तुत: अनुभव करना, इसी का नाम स्वतन्त्रता है। इससे उल्टा अनुभव ही तो परतन्त्रता कहलाती है। तात्पर्य, अपने आप के विषय में वास्तव में '' मैं क्या हूँ'' इस बात के अनुभव को स्वतन्त्रता कहते हैं। अभी तक कई बार अच्छी तरह से यह कहा गया है, कि ''जीवोऽहम्'' और ''शिवोऽहम्'' इन दोनों तरह के, और तो क्या, ज्ञान के जितने ही प्रकार हैं, अर्थात् वे काल्पनिक हों, अथवा व्यावहारिक हों, अर्थात् सूक्ष्म हों या स्थूल, किसी तरह के हों, उन सम्पूर्ण प्रकारों का एक–मात्र अधिष्ठान आत्मरूप है। हां यह न समझना चाहिये कि ये सारे ज्ञान अनार के अन्दर अनार के दानों की तरह, आत्मा में रहते हैं। इनका तो अधिष्ठानाऽधिष्ठेय–भाव–सम्बन्ध कुछ अपूर्व

** चिदात्मनि पद का अर्थ है परिपूर्ण स्वातन्त्र्य स्वरूप परमेश्वर में। क्योंकि वह पूरी तरह से स्वतन्त्र है और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। अत: जैसे चाहता है वैसे चमक उठता है। तो उसकी लीला के विलास की महिमा से ये तीनों ही वाद संसार में निचले दर्जे के अधिकारियों के हित के लिए प्रकट होते रहते हैं। यह भी उसकी चिदात्मकता का एक विशेष प्रकार का विलास है।*

ही है।* दूसरी दृष्टि से देखा जाए, तो ऐसा भी कह सकते हैं कि इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं मानो। क्योंकि सम्बन्ध दो वस्तुओं में होता है। जहां दो वस्तुऐं ही न हों, वहां उनके सम्बन्ध की शङ्का तक नहीं हो सकती, ** फिर उनका निर्णय कहां और कैसा? अस्तु। और इस तरह से अपने आपको समझना अर्थात् अपने आप में परिपूर्णता के अनुभव का उपभोग करना, इसी का नाम स्वतन्त्रता है। इसीलिये इससे उल्टा अर्थात् अपने आपके अधूरेपन का अनुभव करना, इसको परतन्त्रता कहते हैं।। १९ ।।

परतन्त्रता क्यों आई? अर्थात् इसका कारण क्या है? उद्देश्य नहीं+ और इसको दूर करने का उपाय क्या है? वादी ने जब इस तरह शङ्का की तब हम कहते हैं कि इसका उत्तर भी सुनिए–

** ये सभी ज्ञान परमेश्वर के शुद्ध प्रकाश के भीतर उसी की परमेश्वरता के विलास से प्रतिबिम्बों की तरह ठहरे रहते हैं। ये मानों उसके अभिनय हैं और वह मानों इनका अभिनेता है। इस तरह से ये उसकी पारमेश्वरी कला के विलास हैं, ऐसा इनका परस्पर ठहराया हुआ सम्बन्ध है। परन्तु ऐसे होने के कारण ये स्वयं कुछ भी नहीं है। वस्तुतः इन रूपों में अपनी कला की महिमा से प्रकट होता हुआ वही एकमात्र है। इस तरह यह एक अतीव अपूर्व सम्बन्ध है।*

*** सम्बन्ध नामक पदार्थ की तो वास्तविक सत्ता कोई है ही नहीं। यह तो एक कल्पना के आधार पर ठहराया हुआ पदार्थ है।*

+ तात्पर्य यह है कि प्रश्न पारतन्त्र्य के कारण के विषय में और उसे हटा देने के उपाय के विषय में किया गया है। उसके उद्देश्य के विषय में नहीं किया गया है।

पारन्त्र्याऽनुसन्धानात् सम्प्राप्तं पारतन्त्र्यकम्।
स्वतन्त्रताऽनुसन्धानं विनाशयति तत्क्षणात् ॥ २०॥

परतन्त्रता के अनुसन्धान से परतन्त्रता कमाई, अर्थात् प्राप्त की। स्वतन्त्रता का अनुसन्धान उसी क्षण परतन्त्रता को समूल नष्ट कर देगा। तात्पर्य, " मैं परतन्त्र हूँ" इस तरह लगातार अपने आपको समझने से अर्थात् " मैं परतन्त्र हूँ, मैं परतन्त्र हूँ", इस तरह का दृढ़ अनुसन्धान अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके हमने परतन्त्रता अच्छी तरह प्राप्त की है*। अगर हम उसे मिटाना चाहें तो ठीक इसके उल्टा अर्थात् "मैं स्वतन्त्र हूँ" इस तरह का दृढ़ अनुसन्धान अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन का दृढ़ अभ्यास करना चाहिये**। जिस समय इस अनुसन्धान की चरम सीमा हो जाएगी बस उसी क्षण परतन्त्रता समूल नष्ट हो जाएगी।। २०।।

भला परतन्त्रता का अनुसन्धान पहले क्यों किया? और अब उसको मिटाने का यत्न करना, यह तो ठीक बात नहीं। अगर हम इसको ठीक मान लें, तो हमें यह मानना होगा, कि ऐसा करने वाला स्वयं ईश्वर नासमझ है। नहीं, ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है। कारण सुनिए–

** तात्पर्य यह कि अपने आपको लगातार परतन्त्र समझते हुए हमने अपने ऊपर परतन्त्रता के दृढ़ संस्कार को जमा रखा है।*

***** ऐसे अभ्यास को ही ज्ञान योग या शाक्तोपाय या ज्ञानोपाय कहा जाता है। इस उपाय से अपनी परिपूर्ण स्वतन्त्रता का संस्कार जब अपने ऊपर पक्का हो जाता है, तो परतन्त्रता का संस्कार पूरी तरह से मिट जाता है।***

स्वासमन्ताद्यथा बालो भ्रान्त्वा भ्रान्तः पतन् भुवि।
उत्तिष्ठति भ्रान्तिनाशे स्वानन्दनिरतो मुहुः ॥ २१॥

बच्चा अपने आपके चारों ओर चक्कर लगाता हुआ चक्कर ला कर जिस तरह पृथ्वी पर गिरता है, और फिर उस चक्कर के नष्ट होने पर उठ खड़ा होता है, बार–बार अपने आनन्द में मग्न हो ऐसा किया करता है। तात्पर्य, कि जिस तरह बच्चे अपने आनन्द के लिये और अपने आनन्द में ही निमग्न बार–बार अपने ही चारों ओर घूमते हैं। और घूमते घूमते चक्कर खा कर पृथ्वी पर गिरते हैं, तथा फिर उस आये हुए चक्कर के नष्ट होने पर उठ खड़े हो जाते हैं, इसी तरह बार बार करते हैं क्योंकि इसमें एक बड़ा अपूर्व आनन्द आता है, यह बात सभी जानते हैं ॥ २१॥

एवं स्वात्मा विलासेन कल्पितैः पाशबन्धनैः।
जीवभावं भजन् कञ्चिदानन्दं विन्दते मुहुः ॥ २२॥

इसी तरह यह अपने आप विलास से कल्पित किए पाश के बन्धनों से स्वयं जीव–भाव को लेता हुआ किसी अपूर्व आनन्द को बार–बार पाता है। तात्पर्य यह, कि परमात्मा स्वयं समर्थ है। और वह विलासी भी है। इसीलिये बच्चों की तरह, अर्थात् निराशंस होकर अर्थात् किसी भी वासना अथवा चाह को न रखते हुए ही अपने ही बनावटी पाशों के बन्धनों से अपने आपको जीव बनाता हुआ किसी अपूर्व आनन्द को बार–बार पाता है। तात्पर्य यह, कि पहले अपने आपको शिव समझना, पीछे जीव समझना, फिर जीव–भाव को नष्ट कर देना, अर्थात् जीव–भाव को छोड़ कर फिर शिव–भाव लेना और फिर इन दोनों को एक दम ग़ायब करके

अपने आप से भी अलक्ष्य सा बन बैठना,* इसमें कोई अपूर्व आनन्द आता है, तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहना, यही मानो काम है। अगर यह जीव–भाव न पाए, तो जीव–भाव के आनन्द की कमी रह जाएगी। अगर सम्पूर्ण भावों को अपने आप में लीन कर अलक्ष्य सा न हो तो अलक्ष्यता की कमी रह जाएगी। अत: यह कहना पड़ता है कि यह पूर्ण स्वतन्त्र है। इसीलिये ऐसा किया करता है, और इसीलिये आत्माऽनुभवी जगत् को समझाया करते हैं, कि आत्मस्वरूप सच्चिदानन्दकन्द है, इत्यादि मङ्गलाचरण–कारिका में कहा है।। २२।।

हां जी! ठीक है, यह बात तो बिल्कुल ठीक है। पर हम किस तरह पाएं? और क्या करें? अब एक बार फिर समझा दीजिये, कि इसकी प्राप्ति कहां से हो सकती है? इसका भी उत्तर सुनिये–

श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वं श्रोत्रियाद् ब्रह्मनिष्ठत:।
विज्ञाय सच्चिदानन्दरूपे विहरतां सदा ।। २३।।

अपने आपको श्रोत्रिय अर्थात् सिद्धान्तज्ञानी शब्द–ब्रह्मनिष्णात और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् अनुभवज्ञानी गुरू से अपने आप में श्रोत्रियता और ब्रह्मनिष्ठता का अनुभव करके फिर अपने सच्चिदानन्दरूप में सर्वदा विहार करो। तात्पर्य, जिस समय यह जानने की इच्छा हो जाए कि मैं ''कौन हूँ'' अर्थात् मेरा स्वरूप क्या है? उसी समय गुरूदेव के पास नम्रभाव से जाए। इसमें

** ज्ञान का विषय न बनते हुए अपने वास्तविक चिन्मय स्वरूप में ठहर कर रहना और अपने आपको बुद्धि की समझ का भी लक्ष्य न बनाते हुए एक रूप से स्वयं ठहरना।*

किसी आश्रम की या किसी वर्ण की, या किसी देश की, या किसी जाति की, शर्त नहीं है। शर्त केवल है गुरू की, अर्थात् गुरू की परीक्षा करनी चाहिये। जिस समय वह गुरू परीक्षा में ठीक उतर जाए, बस उसी समय और उसी के पास जाना चाहिये। गुरू की परीक्षा करने के लिये इन लक्षणों को देखना चाहिये– यह श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है अथवा नहीं? श्रोत्रिय के अर्थ यह होते हैं कि जिसने अपने सम्प्रदाय क्रमानुसार सद्गुरू से साङ्गोपाङ्ग ज्ञान प्राप्त किया है। अर्थात् साङ्गोपाङ्ग जिसने स्वाध्याय किया हो, उसको श्रोत्रिय कहते हैं। और फिर यह देखना, कि यह ब्रह्मनिष्ठ है या नहीं, ब्रह्मनिष्ठ का अर्थ, जिसने ब्रह्म का अर्थात् आत्मस्वरूप का परिपूर्ण विज्ञान प्राप्त किया है। क्योंकि परिपूर्ण ब्रह्म के विज्ञानी को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं। ये दोनों लक्षण यथा सम्भव एक ही जगह मिलें, तो वह गुरू सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें जितनी ही न्यूनता रहेगी उतनी ही प्राप्ति में देर होगी। अस्तु। यथा सम्भव ऐसे गुरू की खोज करके उनसे यथा विधि अपने आपको श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ बनाओ। दोनों लक्षण अगर एकत्र न मिलें, तो जितना जहाँ से मिले उतना ही वहां से नम्र–भाव से लो। और सर्वदा उसके कृतज्ञ बने रहो। कृतज्ञ होने से ही गुरू की दी हुई ज्ञानकला भी पूर्णता प्राप्त करा देती है। अस्तु। पश्चात् अपने आपके अनुभूत सच्चिदानन्दरूप में जोकि मङ्गलाचरण में वर्णित हो चुका है, और अभी तक तरह तरह से जतलाया गया है, और आगे भी फिर समझाया जाएगा। उसी अपने आत्मस्वरूप में विहार, अर्थात् अपना अभिलषित आनन्द करो। क्योंकि अगर गुरू श्रोत्रिय न होगा, तो वाद विवाद से शिष्य की आकाङ्क्षा को पूर्ण नहीं कर सकेगा। और ब्रह्मनिष्ठ न होगा, तो आत्म–साक्षात्कार नहीं करा सकेगा। परन्तु इस बात को सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये, कि ब्रह्मनिष्ठ अश्रोत्रिय नहीं होता। चाहे वह पहले कुछ पढ़ा हो, या न पढ़ा हो। क्योंकि श्रुति, स्मृति आदि

सम्पूर्ण शास्त्र और सबसे ऊपर आत्मानुभव का तो अन्तिम निर्णय यही है, कि ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्म इन दोनों में काल्पनिक भेद भी नहीं रहता, अत: ब्रह्मनिष्ठ सम्पूर्ण आशङ्काओं का निराकरण कर सकता है। क्योंकि वह गुरू–श्रेष्ठ सर्व–शक्ति–स्वरूप है। अर्थात् परिपूर्ण है। तो वहां श्रोत्रियता की कमी कैसे रह सकती है? साधारण व्यवहार में जिनको ब्रह्मनिष्ठ कहने में आता है, वे वस्तुत: ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं। किन्तु किसी कोटि के ब्रह्मनिष्ठ हैं। और वास्तव में जो ब्रह्मनिष्ठ ही हैं, वे तो परिपूर्ण ही हैं। ऐसा तत्त्व–दर्शियों का अनुभव है। परन्तु ऐसे पुरुष सहस्त्रों वर्षों में और करोड़ों कोसों में एक आध ही हुआ करते हैं। और इनकी पहचान भी कोई विशेष पुरुष ही कर सकता है। अत: हमने यह कह दिया है, कि यथा सम्भव ऐसे ही गुरू की खोज करें।। २३।।

और अधिक क्या, अन्तिम बात तो यह है, सुनिए–

इच्छन्ति नित्यमिह सौख्यसुधासमुद्रं
स्वातन्त्र्यमेव पशुपक्ष्यमरादयोऽपि।
तस्मात् बुधैः खलु तदेव समर्थनीयं
नान्यत् किमप्यपरमस्ति हि शिक्षणीयम्।। २४।।

यहां अर्थात् चराचर ब्रह्माण्ड में सभी आनन्दरूपी अमृत के समुद्र–स्वरूप स्वातन्त्र्य को ही, पशु, पक्षी, देवता आदि तक सर्वदा चाहते हैं। अत: समझदार लोग उसी को चाहें। और निश्चय से उसी को साधना भी चाहिए। इससे बढ़कर कोई भी दूसरी बात सीखने या सिखाने योग्य नहीं है। ऐसा निश्चित हो चुका है। तात्पर्य, स्वातन्त्र्य अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता यह आनन्दरूपी अमृत का समुद्र है और उस आनन्द को सर्वदा सभी चाहते हैं।

इन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में एक भी ऐसा न मिलेगा, जो इसको न चाहता हो। चाहे वह पशु हो या पक्षि हो, और तो क्या देवता भी इसी एक बात के पीछे पड़े हुए हैं, तब फिर आप जैसे समझदार लोगों को क्या इस बात का निश्चय कराना पड़ेगा? कि आप भी उसी स्वातन्त्र्य को चाहें। तात्पर्य यह, कि आप लोगों को सर्वदा उसी की चाह करनी चाहिए। और परिश्रम से उसी स्वातन्त्र्य को प्राप्त करना चाहिये। इससे बढ़कर दूसरी बात सीखने और सिखाने के योग्य कोई भी नहीं हो सकती। यह बात मूर्ख से लेकर विद्वान् तक और चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण ज्यादा क्या, छोटी—छोटी कीड़ी मकौड़ी से लेकर ब्रह्मा—पर्यन्त सभी ने निश्चित कर दी है। अत: हम भी इसी बात को बार—बार आप लोगों से प्रार्थना करेंगे, कि उसी पूर्ण स्वातन्त्र्य को प्राप्त करिये।।२५।।

पशोः पशुपतिप्राप्तिकरं परशिवप्रदम्।
स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रस्य स्वातन्त्र्यं सुनिरूपितम्।।२५।।

पशु को पशुपति की प्राप्ति कराने वाला और लक्ष्य और अलक्ष्य—स्वरूप* परम—कल्याण—रूप परशिव के ज्ञान को करा देने वाला यह स्वातन्त्र्य—प्रकरण स्वतन्त्र ने अच्छी तरह से निरूपित किया। तात्पर्य यह, कि इस प्रकरण को अर्थात् जिसमें स्वतन्त्रता का, और उस स्वतन्त्रता का जो कि परिपूर्ण है और जिसे कीड़ी से लेकर ब्रह्मा तक चाहते हैं, उसका अच्छी तरह से निरूपण किया गया है। यह निरूपण सावधान हो कर देखा जाए, तो परम—

** प्राप्तव्य होने के कारण वह परशिवता का ज्ञान लक्ष्य है। त्रिपुटी से उत्तीर्ण अद्वैत स्वरूप होने के कारण उसे अलक्ष्य भी कहा गया।*

कल्याण–स्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति अवश्य होगी। साथ–साथ इसमें यह शर्त नहीं है, कि वह कोई विशेष विद्वान् हो या विशेष किसी जाति का या किसी आश्रम का हो, चाहे वह पशु अर्थात् अत्यन्त अज्ञानी भी क्यों न हो, उसको पशुपति की प्राप्ति अवश्य ही हो जाएगी। क्योंकि यह स्वतन्त्र ने ही अर्थात् शम्भु* ने ही कहा है। तस्मात् जिसको अपने आपका परम–कल्याण करना हो, वह इस प्रकरण को अच्छी तरह सावधान होकर समझ ले।। २५।।

इति श्री–महामहिम–आचार्य–श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुद्भासिते आत्मविलासे स्वातन्त्र्यस्वरूपनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम्।

** जिसने अपने परमशिव भाव को पहचान लिया हो वह तो मर्त्य शरीर में ठहरे रहने पर भी परमशिव ही होता है। अतः प्रकृत स्वातन्त्र्यनिरूपण का उपदेष्टा स्वयं स्वतन्त्र परशिव ही है। तो इसे परशिव का ही उपदेश समझिए।*

॥ श्रीः ॥

चतुर्थ प्रकरणम्

—— :o: ——

महाविद्यानिरूपणम्।

दूसरे प्रकरण में अद्वैत तथा उसके सच्चिदानन्दता का स्वाऽनुभव–प्रदर्शन–पूर्वक निरूपण किया गया। तथा फिर वह सच्चिदानन्द परमात्मा इस जगत् के रूप से क्यों विहार करता है, इसका कारण पूर्ण स्वातन्त्र्य बतलाया तथा उसका भी निरूपण अच्छी तरह से तीसरे प्रकरण में किया गया। अब शङ्का यह होती है, कि बहुत से विद्वान् ऐसा कहते हुए देखने में तथा सुनने में आते हैं, कि जगत् अविद्या से हुआ है, तो क्या यह बात ठीक है? हमने तो इसका कारण पूर्ण स्वातन्त्र्य, अर्थात् सच्चिदानन्दकन्दता अर्थात् पूर्णाहन्ताविमर्श–स्वभाव जो परिपूर्ण अहम्महो–विलास कहा था, तो अब यह देखना होगा कि कौन सा मत ठीक है?

इसलिये यह महाविद्या–प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। आरम्भ में तन्त्र से सिद्धान्त प्रदर्शन और मङ्गलाचरण दोनों ही किये हैं। सुनिये–

स्वविलासस्वरूपा सा विद्याऽविद्याप्रकाशिनी।
महाविद्या महामाया परिपूर्णा जयत्यसौ ॥ १ ॥

आत्मविलास स्वरूपिणी विद्या तथा अविद्या इन दोनों को प्रकाशित करने वाली वह यह महाविद्या, महामाया, परिपूर्ण सर्वोत्कृष्ट है। तात्पर्य, 'यह' अर्थात् प्रसिद्ध जो कि सर्वदा अपरोक्ष ही है। क्योंकि उसका अपना स्वरूप अपना विलास ही है। विलास आत्मा से भिन्न नहीं, हम कह चुके हैं। यही महाविद्या अर्थात् महाज्ञान रूपिणी है क्योंकि यह विद्या और अविद्या इन दोनों की प्रकाशिका है। अर्थात् जो विद्या और अविद्या इन दोनों को प्रकाशित करे वह सच्चिदानन्द ही हो सकती है। अत: हमने कहा, कि अगर समझने के लिये कुछ कहा जाए, तो इसको महाविद्या ऐसा कह सकते हैं। कारण यह कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया, तथा तदतीत भी जो जाने, उसको सिवा महाविद्या के क्या कहा जा सकता है? क्योंकि यदि सोने वाला सच–मुच ही सोता हो तो उसको यह नहीं मालूम हो सकता कि मैं सोता था। तात्पर्य यह कि सोना भी एक अवस्था मात्र ही है। तथा उसका जानने वाला सोते हुए भी जागते ही रहता है। अत: उसको पूर्ण ज्ञानस्वरूप ही कहना पड़ेगा। दूसरे स्वरूप में यदि कुछ कहना हो, तो हम इसको महामाया कह सकते हैं। कारण यह कि 'अघटितघटनापटीयसी' अर्थात् जो न हो सके उसको भी कर दिखाने वाली शक्ति को माया कहते हैं। परन्तु यह माया खोजने पर कभी भी किसी को भी न मिली न मिलती है और न मिलेगी। यदि इसको हाथ में भी पकड़ लो, तो भी इसका कोई विशेष रूप ही हाथ में आएगा। वास्तव में देखा जाए तो यह रूप भी असत्य ही होता है। जैसे यदि किसी ने मिट्टी हाथ में ले ली तो कोई रूप ही हाथ आएगा। चाहे वह रूप ढेला हो, घड़ा हो, कशोरा हो, या और कुछ हो, आएगा कोई रूप ही। परन्तु अगर दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो इसका आना या न आना बराबर ही है। क्योंकि जो रूप है वह तो नाम का ही रूप है। परन्तु काम का नहीं। कारण यह कि वह अत्यन्त असत् है।

अर्थात् कल्पना—मात्र है। इसी तरह से माया का भी हाल है। लेकिन इस बात की अर्थात् ऐसी माया भी दिखाई देती है या नष्ट हो जाती है, इस बात को जानने वाली भी कोई वस्तु है तभी तो इस बात को ठहराया। उसी वस्तु को दूसरी दृष्टि से हमने '' महामाया '' यह नाम आप लोगों को समझाने के लिये दिया है। वास्तव में वह महाविद्या से पृथक् नहीं। तात्पर्य यह कि आत्माऽभाववादी बौद्ध, जैन, तथा और और भी जो यह कहते हैं कि किसी वस्तु का भी कारणरूप में जब बोध ही नहीं होता तो उसको मानने को, या है, ऐसा कहने को स्थान भी कहां है? या हो सकता है*? इसीलिये हमने उसको महामाया कहा है। अपने आपको हर तरह से छिपा रखना और यहां तक छिपा रखना मानो दूसरा तो क्या अपने आप भी किसी तरह न जाने कि ''मैं हूँ''** । इसलिये अभाव—वादियों का भी कहना किसी हद तक ठीक ही है। लेकिन सीमा, हद के अन्दर रह कर सीमा के बाहर की खोज बन ही नहीं सकती। अत: हम यह कहते हैं कि इस दायरे को अपने आपके अन्दर गला दो। अर्थात्

** बौद्ध जैन आदि यह मानते हैं कि जगत् के मूल कारण के रूप में किसी भी ईश्वर आदि तत्व को आज तक किसी ने नहीं जान लिया, न ही आगे कोई जान सकेगा। अत: केवल अन्ध परम्परा के न्याय से ही उसकी सत्ता को मानना उचित नहीं।*

*** वह महामाया सर्वथा अज्ञेय ही रहती है। उसे महामाया कहने का तो तात्पर्य यही है कि वह पारमेश्वरी शक्ति अपने आप को किसी तरह से ज्ञेयरूपता में आने नहीं देती। समस्त प्रपञ्च को चलाती हुई भी वह जानी नहीं जाती है। इसीलिए वह माया ही नहीं उससे भी बढ़ कर महामाया है।*

सारे दायरों के दायरा खुद बन जाओ*। फिर देखो कि क्या वास्तव में ऐसा है? तो मालूम हो जाएगा कि नहीं, ऐसा नहीं**। किन्तु वैसा भी है। क्योंकि इस बात को भी ठहराने वाला कोई तो पहले वर्तमान ही था, ऐसा मानना ही पड़ता है***। वह वस्तु अप्रकट हो या प्रकट, यह नहीं कह सकते कि वह नहीं थी या नहीं है या न रहेगी। जैसे गौ के थन से निकाले हुए दूध में घी रहता है या नहीं? इस प्रश्न के निर्णय में मानना होगा कि अवश्य ही रहता है। चाहे वह फिर घी के रूप में हो या न हो। 'है' यह तो कहना ही होगा। इसी तरह आत्म तत्त्व जिस समय महामाया स्वरूप रहता है। उस समय यह कहना कठिन पड़ता है कि वह है या नहीं। इसी कारण ऊपर ऊपर विचार करने वाले कह बैठते हैं कि आत्मस्वरूप नहीं है। वस्तुत: देखा जाए तो वह महाविद्या–स्वरूप ही है। अर्थात् सर्वदा प्रकाशित ही है। फिर भी किसी को या बड़े से बड़े विद्वान को भी सोचते सोचते चक्कर

** अपने ही भीतर और अपने को ही आधार बना कर सब कुछ जान लो।*

*** वास्तव में मैं ही हूँ। यह जगत् नहीं है। यह भी मैं ही हूँ। मेरे ही ऊपर जगद्रूपता की कल्पना को ठहराया गया है।*

**** शुद्ध सच्चिदानन्दरूपता और जगद्रूपता उसी पर ठहराई गई है, इस बात को भी ठहराने वाला कोई स्वतन्त्र तत्त्व अवश्य ही होना चाहिए। वही महामाया है। सीमाओं को गलाकर यह जान पड़ेगा कि सभी सीमाएं कल्पित हैं परन्तु उनकी कल्पना का आधार भी तो कोई होना ही चाहिए जो उनको कल्पना के द्वारा ठहराता है, यद्यपि उसे जाना नहीं जाता, फिर भी उसे मानना पड़ता है।*

खा कर बेहोश होना पड़ता है इसका कारण भी वही है*। इसीलिये हम उसको महामाया कहते हैं। महामाया का स्वभाव ही यह है कि बड़े–बड़े ज्ञानियों को भी मोहित कर डालना। ठीक भी है। क्योंकि जिस तरह अपनी छाया का उल्लङ्घन अपने ही पैरों से कभी भी हो नहीं सकता या पुत्र अपने पिता की उत्पत्ति को देख नहीं सकता या नमक का ढेला समुद्र का पता लगा कर बता नहीं सकता**। इसी तरह इस आत्म–विलास का पता बताया नहीं जा सकता। इसीलिये यह नहीं हो सकता कि उस वस्तु के पता न मालूम होने से वह वस्तु हो नहीं। जैसे छाया उल्लङ्घन न होने पर भी छाया है, यह तो मानना ही पड़ता है। पिता की उत्पत्ति को न देखने पर भी पिता की उत्पत्ति को सद्रूप मानना ही पड़ता है। या नमक के ढेले ने समुद्र का पता न भी बतलाया तो भी समुद्र की सत्ता तो रहती ही है। इसी तरह आत्मस्वरूप को चाहे आप न भी जान सकें तो भी उसकी क्षति कोई नहीं। उल्टा उसका तो अपना लाभ ही है। इसीलिये हमने

** बड़े बड़े विद्वानों के द्वारा भी वह जाना नहीं जा सकता, उसकी इस अत्यन्त अज्ञेयता का कारण भी वह स्वयं ही है। स्वयं अपने नैसर्गिक स्वभाव से ही वह सदा अज्ञेय ही है। इसलिए उसे माया ही नहीं, महामाया कहा गया है।*

*** समुद्र में जाकर वह गलकर समुद्र के साथ एक रूप हो जाए तो समुद्र का पता क्या बता सकेगा।*

इसको महाविद्या और महामाया* कहा है। तथा यह महाविद्या, महामाया–स्वरूपिणी महाऽमा** है। अर्थात् अमा की भी अमा है। अर्थात् अमा को अर्थात् अमावस्या को चन्द्रमा अपनी सोलहों कलाओं से अपने आत्मस्वरूप सूर्य में सूर्य रूप से ही विद्यमान रहता है। इसी प्रकार ये सम्पूर्ण अमायें अर्थात् माया–शक्तियाँ अपने आत्मस्वरूप से एक ही अधिष्ठान में अज्ञात–रूप से विद्यमान रहती हैं। ⊕इसीलिये इस आत्मस्वरूप को महामाया कहा जाता है•। दूसरी दृष्टि से देखने पर जैसे यह बात साफ–साफ मालूम

** उसे महामाया कहने से यह तात्पर्य है कि उसे कभी भी किसी के भी द्वारा जाना ही नहीं जा सकता है। उसे महाविद्या कहने का यह तात्पर्य है कि अज्ञेय होता हुआ भी वह सदा है। उसकी अपनी सत्ता ही सदैव प्रकाशमान ही है। उसकी अज्ञेयता से ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि उस अज्ञेयता को ठहराने वाली भी कोई सत्ता ही है। वह वही है और इस तरह से सदैव प्रकाशमान ही है। यदि वह प्रकाशमान नहीं होता तो कुछ भी भासता नहीं।*

*** महा+अमा, या जो महा अमावस्या–स्वरूपिणी महा–विद्या है।*

⊕जितना भी यह समस्त प्रपञ्च है, यह बीजरूपता से उस मूल तत्व के भीतर सदैव विद्यमान ही रहता है। इस की सृष्टि हो स्थिति हो या संहार हो या कुछ भी नहीं, फिर भी यह वहां उसी के आकार में सदैव विद्यमान ही रहता है। अतः वह पर तत्त्व सदैव परिपूर्ण है, कभी भी रिक्त नहीं होता है।

• प्रपञ्च उसके भीतर रहता तो है परन्तु प्रपञ्चरूपता से वहां प्रकट नहीं होता। वहां प्रकट नहीं होता। वहां तो यह प्रपञ्च भी विद्या के ही शुद्ध प्रकाश के रूप में प्रकट होता है। इस तरह से मानो वहां यह छिपा रहता है। इस कारण से भी उस मूल तत्व को महामाया कहा गया।

हो जाती है कि अमा ही पूर्णिमा है। अर्थात् उस दिन भी सोलहों कलाएँ अपने आत्मस्वरूप सूर्य में पूर्ण–रूप से विकसित हो कर विद्यमान रहती हैं*। और विकसित होना यह ज्ञान का स्वभाव है। परन्तु जिस आत्मरूप अधिष्ठान में सम्पूर्ण पूर्णिमाएं विकास–भाव से अवस्थित होती हैं, उस महापूर्णमासी को महाविद्या के सिवा और क्या कहा जा सकता है? इसीलिये महाविद्या और महामाया इन दोनों नामों से समझकर भी अगर कोई संशय रह जाए तो उसको निवृत करने के लिये ही परिपूर्ण** यह पद दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि जो ओत–प्रोत–भाव + से विद्यमान है, इसीलिये उसके विषय में यहां द्वैत की शङ्का भी नहीं हो सकती। उस ऐसे सर्वदा प्रत्यक्ष, परोक्ष और अपरोक्ष सभी

** अमावस्या के दिन चांद की सोलहों कलाएँ सूर्य के भीतर प्रवेश करके सूर्य के साथ एक होकर सूर्य के ही रूप में पूर्णतया चमकती हैं। अत: अमावस्या भी एक तरह पूर्णिमा ही है। भाव यह है कि मूल तत्त्व परिपूर्ण है और यह प्रपञ्च भी वही है अत: तद्रूप होने के कारण यह प्रपञ्च भी परिपूर्ण ही है। अत: महामाया महाविद्या ही है।*

*** वह शुद्ध प्रकाशरूप है, उसकी इस प्रकाशरूपता के भीतर सारा प्रपञ्च तद्रूप होकर ही विद्यमान है। इस प्रपञ्चरूपता में भी प्रकाशरूपता व्यापक भाव से विद्यमान ही है। तो प्रपञ्च रूप होता हुआ भी वह शुद्ध प्रकाशात्मक ही है। यह सारा प्रपञ्च शुद्ध प्रकाश ही है। अत: सब कुछ वही है और सब कुछ सब कुछ है। यह है उसकी पूर्णता।*

+ सब कुछ मानो उसी के भीतर पिरोया हुआ है और सब कुछ के भीतर वह अनुस्यूत है। अनुस्यूत ओत और पिरोया हुआ प्रोत होता है।

रूपों से विद्यमान* महाविद्या का अर्थात् आत्मस्वरूप का जय–जयकार हो रहा है॥१॥

जिन विद्या और अविद्या** को प्रकाशित यह महाविद्या करती है, उन विद्या और अविद्या का क्या स्वरूप है? अर्थात् वह जड़ है, कि चेतन? वादी के इस प्रश्न पर हम कहते हैं कि–

विलासोल्लासितत्वेन विद्याऽविद्ये तु चेतने।
अपूर्णत्वाज्जडे ते स्तो जडाऽजडे इमे ततः ॥ २॥

विलास से उल्लासित होने के कारण विद्या और अविद्या दोनों चेतन+ हैं और अपूर्ण होने के कारण जड़ हैं। इसलिये ये दोनों जड़ भी हैं और अजड़ भी हैं। तात्पर्य यह है कि विद्या और अविद्या ये दोनों विलास से प्रकाशित की जाती हैं। अतएव इनको चेतन कहना पड़ता है। कारण यह कि जो वस्तु सत् होती है अर्थात् जिसके लिए हम "है" ऐसा कहते हैं वही चित्

** प्रपञ्च रूप में वही प्रत्यक्ष है, माया रूप में वही परोक्ष है और आत्मरूप में वही अपरोक्ष है। अपरोक्ष वस्तु सदैव प्रकट ही होती है, परन्तु इन्द्रियों और मन से प्रत्यक्षतया उसे जाना नहीं जा सकता। अतः अपरोक्ष वस्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों से ही विलक्षण होती है।*

*** विद्या यथार्थ ज्ञान को और अविद्या अज्ञान को या अयथार्थ ज्ञान को कहते हैं। अयथार्थ ज्ञान ही अज्ञान कहलता है।*

+ विलास परमेश्वर का स्वभाव है। वही विद्या और अविद्या के उल्लास के रूप में चमकता है। अतः यह दोनों विलास ही हैं। विलास परमेश्वर का स्वभाव होता हुआ उसका स्व+भाव– अर्थात् अपना आप ही है। अतः यह चेतन है। तद्रूप होने के कारण विद्या और अविद्या दोनों चेतन हैं।

अर्थात् चमकने वाली होती है। उसका स्वरूप कुछ स्वयम्प्रकाश होता है और कुछ पर – प्रकाश होता है। शर्त यह है कि उसकी सत्ता पारमार्थिक न हो। पारमार्थिक सत्ता तो एक आत्मस्वरूप की ही है, यह हम कह चुके हैं। अब बाकी रही काल्पनिक सत्ता, फिर वह प्रातिभासिक हो या व्यावहारिक, हैं दोनों काल्पनिक ही, इसीलिये वह पर – प्रकाश भी होती हैं। हां, कुछ स्वप्रकाश भी हैं। परन्तु यह बात तो आत्मस्वरूप के कारण होती है। कारण यह कि कार्य और कारण इनमें सम्बन्ध ही कुछ ऐसा है कि कारण की और उस परिपूर्ण–समरस–कारण की झलक तो कार्य में अवश्य ही आनी है। इसलिये काल्पनिक वस्तु में भी स्वप्रकाशिता कुछ रहती ही है। जैसे, लकड़ी अगर सूर्य–प्रकाश के कारण प्रकाशित कोई देख सकता है तो लकड़ी को लकड़ी के ही रूप में प्रकाशित करना, यह जो सूर्य–प्रकाश का काम नहीं, ऐसा भी देखता है। यह तो लकड़ी का अपना काम है। क्योंकि लकड़ी भी आत्म–स्वरूप अर्थात् आत्म–स्वरूप से ही कल्पित होने के कारण कुछ स्वयम्प्रकाश* भी है। बस समझ लीजिये इसी तरह सम्पूर्ण कल्पित वस्तुएं चेतन हैं। तथा इनमें सम्पूर्ण–रूप से स्वप्रकाशिता न होने के कारण ही अर्थात् अपूर्ण होने से कल्पित वस्तुमात्र जड़ भी है। तात्पर्य यह कि इन कल्पित वस्तुओं को आत्म–दृष्टि से चेतनता और अनात्म–दृष्टि से जड़ता होती है। अत: यह बात ठीक हो गई कि विद्या और अविद्या जड़ भी हो सकती हैं और अजड़ भी हो सकती हैं ॥ २ ॥

लीजिये और लोग और भी कहा करते हैं। उस विषय में भी सुन लीजिये–

---

* *लकड़ी का लकड़ी ही के रूप में प्रकाशित होना यह सूर्य के प्रकाश के स्वभाव के कारण से नहीं होता है। यह तो लकड़ी का स्वभाव होता है।*

विद्याऽजडा जडाऽविद्या इति केचिद्यदूचिरे।
अविचारितमेवास्तु रमणीयं सुदूरत: ॥ ३॥

कोई लोग कहते हैं कि विद्या चेतन है और अविद्या जड़ है। परन्तु यह बात दूर रहने से ही और न सोचने पर ही अच्छी मालूम होती है। तात्पर्य यह है कि कोई लोग कहते हैं कि विद्या अविद्या इन दोनों में दोनों को चेतन और दोनों को जड़ मानना ठीक नहीं। कारण यह कि दो में से एक को ही चेतन मानना पड़ेगा तभी दूसरे को जड़ मान सकते हैं, कारण यह कि दोनों अगर समान–रूप से ही मानी जाएं अर्थात् जड़ भी और चेतन भी तो उनमें फरक ही क्या रहा? दूसरी बात यह है कि परस्पर विरोधी धर्म एकत्र रह नहीं सकते। जैसे प्रकाश और अंधेरा एक जगह रह नहीं सकते। अर्थात् एकसमयाऽवच्छेद से या एकाऽधिकरणाऽवच्छेद से नहीं रह सकते। अत: इन दोनों को जड़ और अजड़ दोनों कहना ठीक नहीं बनता। इसलिए हम एक को जड़ और दूसरे को चेतन, ऐसा अवश्य ही कहेंगे। हां, उनका कहना ठीक है, परन्तु यह बात अगर अन्तस्तल में जा कर सोची जाए तो मालूम हो जाएगा कि यह बात बिल्कुल ही असार है। हां, इसीलिये यदि इस बात को ठीक ही है, ऐसा कहना हो तो यह कहना होगा कि इस बात को सोचो ही मत। यह बात, इस सोचने से अत्यन्त दूर ही रहे तभी यह अच्छी लगेगी। कारण यह है कि सोचने पर इन अविद्या को जड़ कहने वाले और विद्या को चेतन कहने वाले विद्वानों की ढोल की पोल खुल जाएगी। अत: इसका न सोचना ही अच्छा है। तात्पर्य यह कि जब हम इस पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि आपका कहंना ठीक नहीं है। आप जो यह समझते हैं कि दो परस्पर–विरोधी धर्म एकत्र नहीं रहते, परन्तु, हमने कब कहा कि ये एकत्र रहते हैं? केवल अन्तर यह है कि एकाऽधिकरणाऽवच्छेद से या

एकसमयाऽवच्छेद से जो दो परस्पर–विरोधी धर्मों का एकत्र रहना आप अस्वीकृत करते हैं, यह बात तो हमें भी अनुमत ही है। लेकिन इसलिये विद्या और अविद्या इन दोनों को जड़ और चेतन दोनों कहना नहीं बनता, ऐसा जो आप समझ रहे हैं यह गलती है। कारण यह कि वस्तुत: चेतनत्व और जड़त्व ये दोनों आरोप–मात्र हैं, और आरोप–मात्र के लिये दो ही क्या, परस्पर–विरोधी करोड़ों धर्म एक में अर्थात् एकाऽधिकरणाऽवच्छेद से और एकसमयाऽवच्छेद से आरोपित होते हैं। इसके लिये दूसरे प्रकरण की दसवीं और ग्यारवीं कारिका देखो। वहां हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं। और दूसरी बात यह भी है कि हमारे मत में विद्या और अविद्या ये दोनों ही आरोप–मात्र ही हैं अर्थात् केवल काल्पनिक हैं। इस बात को हम आगे स्पष्ट करेंगे। तीसरी बात यह भी है कि दृष्टि–भेद से सब परस्पर–विरोधी धर्म एक समय में और एक जगह में रहते ही हैं। अत: आपकी शङ्का केवल कुशङ्का मात्र है। इसीलिये हमने यह कहा कि बिना अन्दर घुसकर सोचे ही आपकी बात अच्छी लगती है। इसलिये वह दूर ही रहे। अस्तु।। ३।।

घड़ी भर के लिए इतना होने पर भी 'दुर्जनतोषन्याय' या अभ्युपेत्यवाद से समझाने के लिये हम कुछ कहेंगे सुनिए–

स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या चेदजडा तत:।
जगत्प्रकाशकत्वेनाऽविद्या किं नाऽजडा भवेत् ।। ४।।

आत्म–स्वरूप की प्रकाशिका होने से विद्या को यदि चेतन कहा जाए तो जगत् की प्रकाशिका होने से अविद्या को चेतन क्यों न कहा जाए? तात्पर्य यह है कि आप जो यह समझ बैठे हैं कि प्रकाशक चेतन होता है और छिपाने वाला जड़ होता है। वास्तव में तो यह जो आपका जड़–चेतन–निर्णय है, यह अप्रयोजक है।

इस बात को हम कहेंगे। अस्तु। फिर भी ऐसा ही मान लिया जाए तो भी हम यह कहेंगे कि यह बात आपकी ठीक नहीं है। कारण यह कि विद्या प्रकाशित करती है। यह प्रण तो नहीं है कि अमुक वस्तु को ही प्रकाशित करे। इसलिये हम यह कहते हैं कि आप जो यह कहते हैं कि अपने आत्मस्वरूप को प्रकाशित करने से विद्या चेतन है तो हम यह पूछते हैं कि जगत् को प्रकाशित करने से अविद्या क्यों न चेतन हो? अर्थात् प्रकाशकत्व–धर्म से यदि विद्या को चेतनता आ सकती है तो वह प्रकाशकत्व–धर्म अविद्या में भी वर्तमान है। रह गई बात यह कि आत्म–स्वरूप को प्रकाशित करना और जगत् स्वरूप को प्रकाशित करना, ये दोनों बातें तो समान ही हैं। यदि यह कहो कि आत्म–स्वरूप प्रकाशकत्व जिसमें हो उसको चेतन कहना तो यह बात भी ठीक नहीं है। इस बात का उत्तर हम आगे देंगे, वस्तुत: हम तो यह कहते हैं कि अन्तिम सिद्धान्त तो यह है कि जगत्–स्वरूप भी तो आत्मस्वरूप ही है। यदि आत्माऽतिरिक्त जगत् कुछ वस्तु हो तब उसका प्रकाशक और अप्रकाशक का विचार बनता है। अस्तु। इस तरह से इतनी बात तो सिद्ध हो ही गई कि प्रकाशकत्व–हेतु से चेतनत्व की सिद्धि जो आपने कही थी, वह बात तो अविद्या में भी लग जाती है। और इसीलिये आपके कथनाऽनुसार अविद्या जड़ सिद्ध नहीं होती। प्रत्युत चेतन सिद्ध हो जाती है।। ४।।

क्यों जी, मान लिया घड़ी भर के लिये ऐसा ही हो, परन्तु हम तो यह कहते हैं कि विद्या आत्मप्रकाशिका है। और उसकी अभाव–स्वरूप

अविद्या है अर्थात् अविद्या तो कोई वस्तु ही नहीं*। तब उससे प्रकाशित होने वाला 'जगत्' यह बात हो ठीक नहीं है, इसलिये हम यह कहते हैं कि अविद्या जड़ है, और विद्या चेतन है। ठीक है। अच्छा, यदि आप ऐसा कहेंगे तो यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि शीघ्र ही आगे इस बात को समझा देंगे कि यह क्यों ठीक नहीं है। लेकिन इस समय घड़ी भर के लिये अविद्या की आपके मताऽनुसार ही काल्पनिक सत्ता स्वीकार कर आपके सारे प्रश्नों का उत्तर देने के लिये हम अपना कुछ सिद्धान्त यहाँ समझाएंगे, और क्रमशः उदाहरण प्रदर्शनपूर्वक आपको आपके प्रश्नों का उत्तर देंगे। इसलिये यह थोड़ा सिद्धान्त हमारा सुन लो–

स्वात्मप्रकाशिका विद्या स्वात्मप्रच्छादिका न हि।
एकाङ्गविकलत्वेन कथं पूर्णा भवेदहो ॥ ५॥

अपने आत्म–स्वरूप को प्रकाशित करने वाली विद्या अपने स्वरूप को प्रच्छादित कर नहीं सकती। यह बात निश्चित है। इसलिये विद्या एक अङ्ग से विकल होने के कारण उसको हम पूर्ण कैसे कह सकते हैं? यदि उस को पूर्ण कहा जाएगा तो बड़े आश्चर्य की बात जान पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि हम पहले विद्या और अविद्या इन दोनों को जड़ कहने के लिये हेतु दे चुके हैं कि

** अद्वैत वेदान्ती प्रायः कहते हैं कि शुद्ध और यथार्थ ज्ञान विद्या है। उस विद्या का न होना अविद्या है। अर्थात् अविद्या एक प्रकार का अभाव है। वह वस्तुतः कोई भाव है ही नहीं अतः अविद्या वस्तुतः है ही नहीं और उससे प्रकाशित होने वाले जगत् की भी वस्तुतः सत्ता है ही नहीं। अतः अभावात्मक अविद्या एक कल्पित पदार्थ ही है। इस कारण इसे चेतन न मानकर जड़ ही मानना चाहिए।*

अपूर्णत्व ही जड़त्व का निर्णायक होता है*। इसलिये हम यह दिखा रहे हैं कि जिस विद्या को आप चेतन बना रहे हैं वह विद्या अपूर्णत्व हेतु से जड़ हो जाती है। देखिये, आत्म–स्वरूप को प्रकाशित करना, इस धर्म से अवच्छिन्नकल्पित ज्ञान विशेष को विद्या यह नाम दिया जाता है। और इसीलिये यह मानना पड़ेगा कि आत्मस्वरूप को प्रच्छादन करना, यह कार्य उस विद्या का नहीं है। हां, एक बात और भी है कि यह तो उपलक्षणमात्र है। और इसीलिये एकाङ्ग–विकलत्व अपूर्णत्व में हमने हेतु दिया है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक अङ्ग से विकल को अपूर्ण कहना और दो अङ्गों से विकल को अपूर्ण नहीं कहना।** कारण यह कि यहां दूसरे अङ्ग की भी विकलता है। सुनिये–जैसे विद्या स्वात्म प्रच्छादिका नहीं है, इसी तरह प्रकाशिका भी तो नहीं है, अर्थात् जगत्–प्रकाशकत्व–रूप दूसरे एक बड़े धर्म को भी विकलता है। अत: ऐसे बड़े–बड़े मुख्य धर्मों से विकल होने पर भी विद्या को चेतन कहना, क्या आपको यह बात आश्चर्य की नहीं मालूम होती? हां, इसी बात से एक और भी बात निकल पड़ती है कि प्रकाशकत्व भी पूर्णरूप से आपकी विद्या में नहीं है। अत: प्रकाशक को चेतन कहना, इसके माने आपके मत में क्या होंगे? इसलिये आपका

** जो अपूर्ण अर्थात् अधूरा हो उसे जड़ कहते हैं और जो सर्वथा परिपूर्ण हो, जिसमें किसी भी प्रकार की कोई भी न्यूनता न हो, उसे ही चेतन कहा जा सकता है। चेतन सर्वथा स्वतन्त्र होता है।*

*** तात्पर्य यह है, किसी भी बात में किसी भी प्रकार की न्यूनता विकलता होती है। विकलता ही अपूर्णता को सिद्ध करती है। वेदान्तियों की विद्या में तो कई एक प्रकार की न्यूनता बतलाई जा रही है। अत: आत्मप्रच्छादन करने में जो असमर्थता विद्या में है, केवल वही एक न्यूनता उसमें नहीं। उसमें और–और प्रकार की भी न्यूनताएं है। इन सभी को यहां समझ लेना उपलक्षण होता है।*

कहना बहुत ही ऊपर–ऊपर का है। इसी तरह अविद्या भी ठीक विद्या की उलटी होने के कारण जड़ और चेतन है। अपूर्ण होने के कारण जड़ है और चेतन से उल्लासित होने के कारण चेतन है*।। ५।।

और भी थोड़ा सावधान हो कर सुनिये –

जगत्प्रकाशिकाऽविद्या जगत्प्रच्छादिका न हि।
अतो नाऽर्हति पूर्णत्वमविद्या विकलाङ्गिनी ।। ६।।

जगत् की प्रकाशिका अविद्या जगत् की प्रच्छादिका नहीं होती यह बात निश्चित है। इसलिए अङ्गों से विकल अविद्या को पूर्ण कहना ठीक नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि जिस तरह विद्या में आत्म–प्रच्छादकत्व और जगत्–प्रकाशत्व ये दोनों धर्म नहीं हैं, वास्तव में होना और न होना यह क्या है? इस बात को अगली कारिका में समझाऐंगे। यहां इतना ही समझ रखिये कि ये दोनों धर्म विद्या में नहीं हैं। उसी तरह अविद्या में भी जगत्–प्रच्छादकत्व और आत्म–प्रकाशकत्व नहीं रहता। यह बात भी निश्चय से सिद्ध ही है। अत: यह अविद्या भी बड़े बड़े अङ्गों से विकल ही है। इसलिए यह भी पूर्ण नहीं हो सकती या पूर्ण कहलाने की योग्यता

** परब्रह्म स्वयं परिपूर्ण परमेश्वर है। उसकी परमेश्वरता उससे भिन्न नहीं, परमेश्वर को ही परमेश्वरता भी किसी दृष्टि से कहा जाता है। अत: परमेश्वरता परिपूर्ण है और शुद्ध चैतन्य है। जगत् का अवभासन उस परमेश्वरता का अपना स्वभावभूत विलास है, अत: यह जगत् भी वस्तुत: चेतन ही है, क्योंकि यह भी वस्तुत: परमेश्वर ही है। परन्तु विलास की लीला के भीतर यह जड़ सा ही प्रकट होता है।*

नहीं रखती*। यह बात अनायास ही प्रकट हो जाती है। अर्थात् अविद्या भी जड़ है और इसके अर्थ यह नहीं, चेतन नहीं, क्योंकि आत्मविलासोल्लासित होने के कारण चेतन भी है ही। इस तरह समझ लेने से पहले वादी को जो विरोध आते थे वे भी मिट जाते हैं। अस्तु।। ६ ।।

अब यह देखना है कि विद्या और अविद्या इन दोनों को जड़ और अजड़ जो ठहराया, उसमें युक्ति यह दी थी कि विलासोल्लासित होने से चेतन कहना और अपूर्ण होने से जड़ कहना। परन्तु इस सम्पूर्ण जगत् का जडाऽजड–विभाग जो कुछ देखा जाता है, क्या वास्तव में वह इसी तरह है? क्योंकि हम मनुष्य को चेतन कहते हैं और वृक्षादि को जड़ कहते हैं। यदि विलासोल्लासित होने के कारण कोई वस्तु चेतन कही जाए तो वृक्षादि भी विलासोल्लासित होने से चेतन कहने पड़ेंगे। और अपूर्ण होने से जड़ कहा जाए तो मनुष्य को भी जड़ कहना पड़ेगा। अत: और सब लोगों ने जैसा जड़ाऽजड़विभाग किया है, उस तरह का आपका निर्णीत जड़ाऽजड़विभाग नहीं मालूम होता। अत: हम कैसे माने? क्योंकि मनुष्य को जड़ कहना और वृक्षादि को चेतन कहना सिद्धान्त–विरूद्ध जान पड़ता है। इसलिये आप अच्छी तरह अपना मत समझाए। इस तरह वादी के कहने पर हम कहते हैं सुनिए—

अपूर्णं जड़मित्युक्तं पूर्णं चैतन्यमुच्यते।
आपेक्षिकं तु चैतन्यं पूर्णं न परमार्थतः ।। ७।।

** अविद्या भी वस्तुत: परमेश्वर का ही विलास है। अत: वह भी चेतन ही है, परन्तु वह पूर्ण होती हुई भी विलास की लीला में अपूर्ण जैसी प्रकट होती रहती है। अत: व्यवहार में समझाने के लिए उसे पूर्ण नहीं कहा जाता तो वह पूर्ण होती हुई भी पूर्ण कहलाने के योग्य नहीं है।*

अपूर्ण को जड़ कहते हैं और पूर्ण का चैतन्य कहते हैं। अपेक्षा से ठहराया हुआ चैतन्य वस्तुत: पूर्ण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि '' जो जो अपूर्ण है, वह वह जड़ है'' ऐसी व्याप्ति है। क्योंकि अपूर्ण को पूर्णता की अपेक्षा रहती ही है। बिना पूर्णता की प्राप्ति के शान्ति नहीं हो सकती। इसीलिये उसमें अर्थात् जड़ में पर–प्रकाशिता दिखाई देती है। इसलिये हम यह कहते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि अर्थात् कल्पित मात्र अपूर्ण होने के कारण जड़ है। और इसीलिये सृष्टि में अन्तिम शान्ति अर्थात् पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। यद्यपि जगत् भी आत्म–स्वरूप ही है, आत्म–स्वरूपाऽतिरिक्त कुछ भी नहीं, परन्तु दृष्टि भेद से अर्थात् स्वभाव से परिपूर्ण होने के कारण अपूर्ण दृष्टि से जगत् की आत्मस्वरूपाऽतिरिक्ता मानी जाती है।* और फिर यह सम्पूर्ण जगत् कल्पित है, ऐसा कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में यदि कहना हो तो ऐसा कह सकते हैं कि अपूर्ण–ज्ञान ही जगत्** है। अच्छा, इसी तरह पूर्ण को चैतन्य कहते हैं। चैतन्य और चेतन अर्थात् धर्म और धर्मी इन दोनों का द्वैत कल्पित–मात्र होने से है। वस्तुत: ये दोनों

** परमेश्वर सर्वथा परिपूर्ण है। अत: वह आत्मदृष्टि का भी विकासक है और प्रमेयदृष्टि का भी। आत्मदृष्टि से देखने पर सब कुछ आत्म–परमेश्वर ही है और पूर्ण ही है। प्रमेय–दृष्टि से देखने पर जगत् एक संकुचित पदार्थ है और अपूर्ण है इसीलिए जड़ है। ऐसा व्यवहार में कहा जाता है। इस व्यवहार का प्रकाशन भी परमेश्वर का ही विलास है।*

*** परमेश्वर सर्वथा, सर्वत: परिपूर्ण होता हुआ ही अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता के विलास से अपने ही आप को संकुचित स्वरूप जीव और जगत् के रूप में प्रकट करता रहता है। इस तरह से पूर्ण होता हुआ भी अपने आपको अपूर्ण जैसा जानता है। उसका इस तरह का ज्ञान–संकोच ही जगत् है।*

एक ही हैं।* इसीलिये ''चेतनमुच्यते'' न कह कर ''चैतन्यमुच्यते'' कहा। इस तरह सम्पूर्ण सृष्टि आत्मस्वरूप होने से पूर्ण है, और इसीलिये चेतन है। अगर ऐसा कहा जाए कि जब सम्पूर्ण सृष्टि पूर्ण ही है, तो इसको अपूर्ण कैसे कहा जाएगा? और फिर यह भी बात है कि सृष्टि कल्पित होने से चेतन कैसे होगी? अजी! यह शङ्का तो बिल्कुल मामूली है। क्योंकि हम तो यह बता रहे हैं कि पूर्ण–दृष्टि से अर्थात् आत्म–दृष्टि से सृष्टि को देखने पर मालूम होगा कि सृष्टि पूर्ण ही है। ** इसलिये यह बात नहीं हो सकती कि वह अपूर्ण नहीं क्योंकि अपूर्ण भी है और पूर्ण भी। अगर दूसरी दृष्टि से भी समझाया जाए तो हम यह कहते हैं कि कार्य से कारण का अनुमान होता है क्योंकि कारण से कार्य की सिद्धि होती है। अत: आत्म–स्वरूप तो पूर्ण है और उसकी पूर्णता आपेक्षिक नहीं किन्तु वस्तुत: है। इस बात के लिये श्रुति–स्मृति आदि सम्पूर्ण ग्रन्थ और स्वानुभव प्रमाण हैं। तब उस पूर्ण से अर्थात् पूर्ण कारण से उल्लासित केवल जड़ क्यों हो? कारण यह कि पूर्णता में यह बात तो नहीं होती कि एक वस्तु है और एक वस्तु नहीं। इसलिये सब कुछ जड़ चेतन अर्थात्

** राहु का स्वरूप सिर ही है और केतु का स्वरूप धड़ है। फिर भी व्यवहार में जो कहा जाता है '' राहु का सिर'' वह तो सिर और राहु में परस्पर भेद की कल्पना करके ही कहा जाता है। उसी तरह से चेतन और चैतन्य वस्तुत: दो पदार्थ न होकर एक ही हैं। आत्मा का चैतन्य ऐसा तो कल्पित भेद पर ही ठहरा कर कहा जाता है।*

*** समस्त संसार को एकमात्र आत्म–परमेश्वर के ही रूप में देखा जाए तो सब कुछ पूर्ण परमेश्वर ही है। इसीलिए उपनिषद् में भी कहा गया है कि–*

'' पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।'

आपेक्षिक पूर्णाऽपूर्ण उस परिपूर्ण से उल्लासित होता है। यहां एक और शङ्का हो सकती है कि परिपूर्ण से उत्पन्न अपूर्ण या आपेक्षिक पूर्ण कैसे होगा? क्योंकि कार्य कारण के अनुसार हुआ करता है। मनुष्य सन्तति मनुष्य होती है, वृक्ष सन्तति वृक्ष, और मिट्टी से बने घड़े मिट्टी ही तो हो सकते हैं। अन्यथा घड़ों का कारण रूई भी माननी पड़ेगी। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता और हो भी नहीं सकता। इसलिये परिपूर्ण से परिपूर्ण ही होगा। हां, ठीक है। कुछ–कुछ ठीक है। परन्तु सूक्ष्म–दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि यह बात ऐसी नहीं है। सुनिये, परिपूर्ण से परिपूर्ण ही होता है, इसके अर्थ क्या कि उससे अपूर्ण नहीं होता? असत् है। और यह आपकी भूल है। क्योंकि परिपूर्ण का अर्थ ही यह होता है कि जो आपेक्षिक पूर्ण और अपूर्ण दोनों से भरा हो। जब दोनों से भरा होगा और तभी उस को परिपूर्णता प्राप्त होगी, तब यह बात कहां रही कि परिपूर्ण से अपूर्ण उत्पन्न नहीं हो सकता? अर्थात् यह नहीं कह सकते कि परिपूर्ण से अपूर्ण और आपेक्षिक पूर्ण उल्लासित नहीं होते या नहीं हो सकते*। वस्तुत: उत्पन्न होना या न होना, ये दोनों बातें बराबर ही हैं। इस बात को हमने कई बार समझाया है और इसको आगे भी समझाएंगे। कारण यह कि ये दोनों भाव कल्पित हैं। इस सिद्धान्त को भूलने से ही ऐसी कुशङ्काएं होती हैं। अस्तु। दूसरी बात एक और भी है कि यह कारिका अभ्युपेत्य–वाद से (दूसरे–वादी का कहना घड़ी भर के लिये सत्य मानकर समझाना) लिखी गई है। परन्तु ठीक देखा जाए तो जगत् और आत्मा ये दो भिन्न वस्तुएं न होने से परिपूर्ण से परिपूर्ण ही होता है ऐसा भी हम मानते हैं।

---

* *जब सब कुछ परमेश्वर ही है। तो यह सब कुछ परिपूर्ण ही है। यह परिपूर्ण उस परिपूर्ण परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है। अत: पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न हुआ है।*

"पूर्णात्पूर्णमुदच्यते"।

और हमारा यह सिद्धान्त ही है कि एक अत्यन्त छोटे परमाणु से लेकर अत्यन्त बड़े अर्थात् परब्रह्मपर्यन्त यच्च यावत कल्पित–मात्र और स्वत: सिद्ध सब एक ही है और परिपूर्ण है। रह गया कल्पित जड़ाऽजड़विभाग, तो वह तो कल्पित ही है। अर्थात् असत् है। यदि उसको भी प्रातिभासिक तौर पर 'है' ऐसा मान लिया जाए तो पुन: वह सद्रूप ही है, अर्थात् पुन: भी आत्मस्वरूप ही है। रह गई बात कल्पिताऽकल्पित की तो वह तो परिपूर्णता को ही सिद्ध करती है, क्योंकि कल्पित और अकल्पित ये दोनों बातें ठहराने वाली परिपूर्ण सत्ता अर्थात् पूर्ण चैतन्य स्वत: सिद्ध ही हो जाती है। अच्छा अब यह शङ्का है कि एक वस्तु अर्थात् कल्पित वस्तु, यदि परिपूर्ण कही जाए तो नाम–रूप–विभाग कैसे होगा? जैसे यदि एक लकड़ी है, तो उस लकड़ी को मिट्टी कोई भी कहता नहीं। मिट्टी ही क्या लकड़ी में भी जो रूप और जो नाम उस समय दिखाई देता है उससे दुसरे रूप और नाम तक भी वहां एक समयाऽवच्छेद से नहीं देखने में आते तो उसको परिपूर्ण कैसे कहा जाए? हां ठीक है। सुनिये – हम तो यह कहते हैं कि वहां अन्याऽन्य नाना रूपों का न होना और न दिखाई देना इसमें बड़ा अन्तर है। यदि अन्धेरे में कोई वस्तु दिखाई नहीं देती तो "वस्तु नहीं है" वहां ऐसा कौन कहने के लिये तैयार है? अर्थात् कोई नहीं। इसलिये वहां अर्थात् हर एक वस्तु में परिपूर्णता वर्तमान ही है। परिपूर्णता का बोध न होने का कारण तो और ही है, वह यह है कि आत्म–दृष्टि का अभाव अर्थात् आत्म–दृष्टि से न देखना। इसका भी कारण आत्मविलास की लीला ही है। दूसरी रीति से यदि कहा जाए तो यह भी हो सकता है कि परिपूर्णता का अविकास अर्थात् हर एक वस्तु में जिस वस्तुत्व का अर्थात् वस्तु शक्ति का जितने ही परिमाण में विकास हुआ हो उसी का बोध होता है और इसीलिए उतने ही अंश को नज़र

में रख कर जड़ या अजड़ कहा जाता है। तथा यह विकास और अविकास ही जड़–चेतन व्यवहार का कारण है। एवं इसका मूल स्वातन्त्र्य है। इसका निरूपण पहले हो चुका है। तथा इसी पूर्ण स्वातन्त्र्य को महाविद्या कहते हैं। तब यह बात ठीक हो गई कि पूर्ण–स्वातन्त्र्य–शक्ति का अर्थात् महाविद्या का दूसरे शब्दों में कहना अर्थात् आत्म–विलास का ही सब कुछ जडाऽजड–विभाग और जडाऽजड–स्फुरण तथा उनका विवेक स्वरूप है। मनुष्य को चेतन कहने का कारण यह है कि मनुष्य में अन्य वस्तु की अपेक्षया स्वातन्त्र्य–शक्ति का विकास अधिक है। इसलिये वृक्षादि की अपेक्षया मनुष्य चेतन है। इसीलिये हमने यह कहा है कि आपेक्षिक चैतन्य वस्तुतः पूर्ण नहीं अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार से विकसित नहीं। दूसरी दृष्टि में अर्थात् सङ्ख्याकृत पूर्णता या अपूर्णता ली जाए तो भी हमें कोई हानि नहीं। इसीलिये कारिका में अपूर्ण और पूर्ण ऐसे साधारण पदों का ही ग्रहण किया है। और कल्पित की पृथक् सत्ता मान कर शङ्का करने वालों का समाधान इस प्रकार हो जाता है कि लकड़ी में लकड़ी के रूप से या नाम से अर्थात् जो शक्तियाँ देखने में आ रही हैं उनसे अतिरिक्त सर्वथा विरोधी अर्थात् साधारण–दृष्टि से कल्पनाऽतीत शक्तियां नहीं हैं वह इसलिये अपूर्ण है। हां इस पर यह शङ्का हो सकती है कि फिर एक ही की अपेक्षया दूसरे का अर्थात् लकड़ी आदि की अपेक्षया मनुष्य को जो चेतन कहा जाता है उसमें कारण क्या? क्योंकि सङ्ख्याकृत अपूर्णता दोनों में जब समान ही है तब किसको जड़ और किस को चेतन कहा जाए? तो वहां भी उत्तर यही है कि जहां स्वातन्त्र्य शक्ति है वह चेतन, और जहां वह नहीं है वह जड़। इसी तरह समझना चाहिये। वस्तुतः सङ्ख्याकृत पूर्णता पर या अपूर्णता पर यह व्यवहार, अर्थात् जड़ाऽजड़–व्यवहार नहीं है यह बात हम कह चुके हैं। एवं यह बात सिद्ध हो गई कि जड़ाऽजड़ विभाग पूर्णता और अपूर्णता पर है और वह आपेक्षिक है। बस इस तरह समझ लेने से विद्या और अविद्या, जड़ और

चेतन अर्थात् दोनों जड़ और दोनों चेतन हैं इसीलिये दोनों भी असत् हैं। यह बात भी अनायास सिद्ध हो जाती है। अन्य शंङ्काओं का उत्तर आगे देंगे।। ७।।

अच्छा, ऐसा भी होने पर यदि हम यह कहें कि अविद्या को जड़ता और विद्या को चेतनता, दूसरे ही रीति से दूसरे कहते हैं और वह ठीक भी दिखाई देती है। जैसे –

यद्युच्येत जडाऽविद्या नश्यमानतया ननु।
विद्याऽपि नश्यमानत्वाज्जडा भवितुमर्हति ॥ ८॥

अविद्या नश्यमान होने के कारण यदि जड़ कही जाए तब तो विद्या भी नश्यमान होने से जड़ होने के योग्य है। तात्पर्य यह कि अविद्या जड़ है क्योंकि वह नष्ट हो जाती है और विद्या नष्ट नहीं होती इसलिये वह चेतन है ऐसा कहना नहीं बनता, कारण यह है कि वे दोनों सापेक्ष अत एव साथ ही साथ उत्पत्ति–विनाश–शाली हैं। अर्थात् जैसे शीशे को रखने से अर्थात् उसको सम्मुख करने से ही बिम्ब प्रतिबिम्ब–भाव साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। तथा शीशे को हटा लेने पर दोनों भाव साथ ही नष्ट हो जाते हैं। प्रतिबिम्ब की अपेक्षया बिम्ब भाव हो जाता है। इसलिये उसको सत् कहना अर्थात् नश्यमान नहीं है ऐसा कहना नहीं बनता। जैसे कोई भी पुरुष पुत्रोत्पति के पहले पिता नहीं कहला सकता और पुत्र–ध्वंस के बाद भी वह पिता कहने योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार यदि अविद्या को नश्यमान माना जाए तो विद्या भी अविद्या की प्रतियोगिनी होने के कारण अनायास ही नश्यमान सिद्ध हो जाती

है*। और नश्यमान को जड़ कहना, ऐसा यदि नियम ठहराया जाए तो इसी नियम के अनुसार विद्या भी जड़ सिद्ध हो जाएगी। इसलिये इस प्रकार अविद्या को जड़ सिद्ध करने वाले विद्या को ही जड़ सिद्ध कर बैठते हैं। तब ऐसे विद्वानों को क्या कहा जाए।। ८।।

क्यों जी, जगत् तो अत्यन्त असत् है अर्थात् कल्पित मात्र ही है, इस बात को तो सारे ही अद्वैत–वादी मानते हैं तो फिर उनको 'अविद्या है', ऐसा मानने की क्या आवश्यकता है?** अत एव निष्प्रयोजन अविद्या जड़ है, ऐसा ही आप कहोगे न? सुनिये–

नास्त्येव यज्जगत्तस्योल्लासने किं प्रयोजनम्।
निष्प्रयोजनतया सा यद्यविद्या जडा भवेत् ।। ९।।

जो जगत् है ही नहीं अर्थात् तीनों काल में जिसकी सत्ता नहीं, ऐसे जगत् को उल्लासित करने में क्या प्रयोजन? अर्थात् कुछ प्रयोजन ही नहीं है। तब उस जगत् को उल्लासित करने वाली अविद्या भी निष्प्रयोजन ही है। इसलिए अविद्या को जड़

---

* *तात्पर्य यह है कि यथार्थ तत्त्व–ज्ञान रूपिणी विद्या को अयथार्थ ज्ञान रूपिणी अविद्या के साथ तुलना करते हुए ही विद्या कहा जाता है। अर्थात् अविद्या और विद्या दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा से ठहराई जाती हैं। अत: इन दोनों का उदय और लय एक साथ ही मानना पड़ता है।*

** *तात्पर्य यह है कि जगत् की उपपत्ति के लिये अविद्या की कल्पना करके उसे ठहराया जाता है। वह जगत् तो वस्तुत: है ही नहीं। जो वस्तु है ही नहीं उसकी उपपत्ति के लिए ठहराई जाने वाली दूसरी वस्तु तो स्पष्ट ही व्यर्थ है और प्रयोजन हीन है।*

क्यों न कहा जाए? तात्पर्य यह है कि पहले जगत् है ऐसा मानना, तभी तो उस को उल्लासित करने वाली अविद्या भी है ऐसा मानना पड़ता है। अर्थात् जगत् के उल्लासन के उद्देश से या कारण से कहो। क्योंकि उद्देश और कारण एक ही हुआ करते हैं। तब ऐसी अविद्या अतीव निष्प्रोजन होने से अर्थात् अपके मत में भी और हमारे मत में भी जब जगत् कोई वस्तु ही नहीं तब उसका उल्लासन कैसा? और फिर उस उल्लासन के लिए अविद्या की सत्ता कैसी? अर्थात् इस प्रकार सभी बातें निष्प्रयोजन होने से अर्थात् व्यर्थ होने से वह अविद्या यदि जड़ कही जाए तो क्या हानि है?॥ १ ॥

वादी की इस शङ्का का उत्तर भी सुन लीजिए–

तदा स्वयम्प्रकाशस्य स्वात्मनो या प्रकाशिका।
निष्प्रयोजनतया सा जडा विद्या न किं भवेत् ॥१०॥

तब स्वयम्प्रकाशमान जो स्वात्मा, उसकी प्रकाशन करने वाली जो विद्या, वह भी निष्प्रयोजन होने से जड़ क्यों न हो? तात्पर्य यह कि अविद्या में निष्प्रयोजनत्व हेतु से आपने जो जड़त्व साधन किया उसी निष्प्रयोजनत्व हेतु से विद्या भी जड़ हो जाएगी अर्थात् उस विद्या को भी हम जड़ क्यों न कहें? निष्प्रयोजनता इस तरह है – अपने आपको स्वयम्प्रकाश मानना ही पड़ता है यह बात हम दूसरे प्रकरण में सिद्ध कर आए हैं। जैसे अंधेरे में बैठ कर भी हम अपने आपके प्रकाश के लिए अर्थात् जानने के लिए कि ''हम हैं या नहीं'' इस बात को सिद्ध करने के लिए किसी भी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं रखते। इसीलिये तो आत्मस्वरूप स्वयम्प्रकाश है, यह बात सिद्ध हो जाती है। तब उस स्वयम्प्रकाश आत्मस्वरूप को प्रकाशित करने की आवश्यकता क्या? अर्थात् कोई नहीं। तब विद्या निष्प्रयोजन हो गई। स्वयम्प्रकाश को भी प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरे की सहायता की

अपेक्षा रहती है, ऐसा यदि माने, तो स्वयम्प्रकाशशब्द का अर्थ क्या होगा? अत: ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है। इस बात को सोदाहरण आगे कहेंगे। अस्तु। एवं च यहां इतनी बात तो सिद्ध हो ही गयी कि निष्प्रयोजनत्व हेतु से अविद्या को जड़ सिद्ध नहीं कर सकते। कारण, उसी हेतु से विद्या भी जड़ सिद्ध हो जाती है।। १०।।

इस पर आपके हृदय में जो शङ्का आएगी वह भी हम बताए देते हैं। सुनिये–

जडप्रकाशकत्वेन जडाऽविद्या भवेद्यदि।
अध्यापकोऽपि मूर्खस्य मूर्ख एव भविष्यति ।। ११ ।।

जड़ की प्रकाशिका होने से यदि अविद्या जड़ सिद्ध हो तो मूर्ख को पढ़ाने वाला भी मूर्ख ही सिद्ध होगा। तात्पर्य यह कि जगत् कल्पित होने से या अपूर्ण होने से जड़ है तो उसका जो प्रकाशक है उसको भी जड़ कहना चाहिये। ऐसा यदि नियम कर दिया जाए और फिर कहा जाए कि अविद्या, जड़ जो जगत् है उसकी प्रकाशिका है, अत: वह भी जड़ ही होनी चाहिये। वाह वा!! यह क्या ठीक है कि जड़ को प्रकाशित करने वाला जड़ होता है? यह यहां कहां से नियम आया? क्योंकि जड़ कहते ही उसको हैं जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति का विकास न हो या होकर उसका नाश हो चुका हो। तब यह बात कैसे कि जड़ को प्रकाशित करने वाला भी जड़ कहा जाए? यदि ऐसा ही मान लिया जाए तब तो किसी मूर्ख को पढ़ाने वाला अध्यापक भी मूर्ख ही कहलाएगा। तात्पर्य यह कि मूर्ख अर्थात् शिष्य और उसका अध्यापक अर्थात् गुरू इन दोनों में उल्टा व्यवहार हो जाएगा।

अर्थात् पढ़ाने वालों को शिष्य कहना पड़ेगा*। परन्तु ऐसा तो कोई भी मानने को तैयार नहीं। अर्थात् बड़े से बड़े विद्वान् तो इस बात को मानते ही नहीं हैं। तथा साथ–साथ मूर्ख भी नहीं स्वीकार करते कि अध्यापक को पढ़ाने के कारण शिष्य कहा जाए। इसलिए जड़ को प्रकाशित करने वाली अविद्या कदाऽपि जड़ नहीं हो सकती। दूसरी बात यह भी है कि प्रकाशन करने वाला स्वयम्प्रकाशमान ही हुआ करता है** अर्थात् कारण की सत्ता के बिना कार्य की सत्ता ही उत्पन्न नहीं होती। अत: यह बात सर्वथा असत्य है।। ११ ।।

दूसरा उदाहरण भी सहेतुक आपको दिखा कर हम समझाते हैं। देखिये–

स्वयम्प्रकाशस्य भानोरन्धकारप्रकाशनात्।
जडत्वं स्याद्यदि ततोऽविद्याऽपि जडतां भजेत्।।१२।।

स्वयं चमकने वाले सूर्य को अन्धेरे को प्रकाशित करने से यदि जड़त्व कहा जाए तब तो अविद्या जड़ हो जाएगी। तात्पर्य यह कि अन्धेरे को कौन प्रकाशित करता है? सूर्य अर्थात् अन्धेरे का प्रकाशित होना, यह सूर्य के ऊपर अवलम्बित है। साथ–साथ यह बात भी है कि सूर्य को देखने के लिये अन्धेरे की आवश्यकता नहीं। इसीलिये सूर्य स्वयम्प्रकाश सिद्ध होता है। एवं वह सूर्य

** जैसे जड़ को चमकाने वाली अविद्या को जड़ माना जाना चाहिए, वैसे ही शिष्य को प्रबोध देने वाले अध्यापक को भी शिष्य माना जाना चाहिए।*

*** जड़ जगत् को प्रकाशित करने वाली अविद्या स्वयं प्रकाशमान ही होती है। स्वप्रकाश होने के कारण उसे जड़ नहीं कहा जा सकता।*

अन्धेरे को भी प्रकाशित करता है। तब इसी कारण यदि उस सूर्य को जड़ ठहराया जाए तब तो अविद्या भी जड़ हो जाएगी। परन्तु सूर्य को कोई भी जड़ नहीं कहता। यद्यपि वह अन्धेरे का भी प्रकाशक है। तब फिर अविद्या को जड़ कैसे माना जाए? यदि यह कहो कि अन्धेरे को प्रकाशित करने के लिये सूर्य की कोई आवश्यकता नहीं और यह बात है भी ठीक क्योंकि सूर्य के सम्मुख जब अन्धेरा आता ही नहीं या कभी वह सूर्य को देखता ही नहीं या यों कहो कि उस अन्धेरे को अपना ही रूप दे देता है* तब यह कैसे कि अन्धेरे को प्रकाशित करने के लिये सूर्य की अपेक्षा है? हां ठीक है। यह युक्तिवाद तो बच्चों को भी मात कर देगा। क्योंकि पहली कही हुई बात को अर्थात् अपनी ही कही हुई बात को भूल कर फिर प्रश्न करना क्या ठीक है? देखिये, यदि आप यह कहोगे कि अन्धेरे के लिये सूर्य की कोई आवश्यकता नहीं तो हम पूछते हैं कि 'अन्धेरा है' यह बात कैसे ज्ञात हुई? क्योंकि सूर्य की तो आवश्यकता है ही नहीं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि अन्धेरा स्वयं ही लोगों को दिखाई देता है अर्थात् स्वयम्प्रकाश है, तो फिर स्वयम्प्रकाश को जड़ कहना यह बात तो बहुत ही विचित्र सी है। सम्मत तो आपको भी नहीं है क्योंकि आपने ही यह कहा है और हम भी कहते हैं तथा सारे विद्वान् भी इसी बात को कहते रहते हैं कि स्वयम्प्रकाश चेतन होता है जड़ नहीं। तब यह विपरीत बात कहनी** इसके लिये लज्जा होनी चाहिये।। १२।।

** सूर्य अन्धेरे को भी अपना प्रकाशमय रूप दे देता है, सूर्य के सामने आते आते अन्धेरा भी प्रकाश सा बन जाता है।*

*** अन्धकार को एक ओर से जड़ के साथ तुलना करना और दूसरी ओर से उसे स्वयम्प्रकाश कहना यह दो बातें परस्पर विरूद्ध हैं।*

एक बात यह भी है कि आप विद्या को जो चेतन कह रहे हैं एवं इसके जो कारण भी बतलाते हैं वे भी विचार करने पर अत्यन्त नि:सार मालूम होते हैं। अब इस बात को दिखाएंगे सुनिये–

प्रत्युत स्वप्रकाशस्य स्वात्मनो या प्रकाशिका।
विद्या भवन्मताऽत्यन्तं व्यर्था किं न जडोच्यताम्॥१३॥

प्रत्युत स्वयं प्रकाशमान स्वात्मा को प्रकाशित करने वाली जो आपने मानी हुई विद्या, वह अत्यन्त व्यर्थ है वह क्यों न जड़ हो, कहिये? तात्पर्य यह कि चौथी कारिका में यह बात कही थी कि आत्म–प्रकाशक होने से विद्या चेतन नहीं हो सकती और पांचवी कारिका में यह बात भी बतलाई है कि वह अपूर्ण है। अब रह गई थी बात यह कि अपने आत्म–स्वरूप को जोकि आत्मस्त्ररूप सर्वदा स्वयम्प्रकाश है उसको किसी प्रकाशान्तर की आवश्यकता नहीं। इस बात को सभी जानते हैं। उसी बात को अब हम समझाएंगे कि आप से विरूद्ध यह कि 'अविद्या की किसी प्रकार की भी आवश्यकता नहीं है' ऐसा जो आपका कहना है, उससे ठीक विपरीत हम यह कह सकते हैं कि 'विद्या की कोई आवश्यकता नहीं है'। इस बात को थोड़ा सा चौथे प्रकरण की दशम कारिका में भी दिखलाया है। फिर भी उसी बात को दृढ़ बनाने के लिए हम यहां कह रहे हैं कि आत्म–स्वरूप तो स्वप्रकाश ही है, यह तो निर्विवाद है। अब उसको भी प्रकाशित करने के लिये आप जो विद्या मान रहे हैं, पहिले यह बात तो सर्वथा असङ्गत* है। और फिर भी हम यह कहते हैं कि वह विद्या

** आत्म स्वरूप स्वप्रकाश होता हुआ सदैव अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होता रहता है। उसे विद्या कैसे प्रकाशित कर सकती है। अत: विद्या उसकी प्रकाशिका है, यह बात स्वयं असङ्गत है।*

ऐसी विद्या कि जो चमकती हुई को चमकाए, क्या व्यर्थ नहीं है? यदि व्यर्थ है तो ऐसी विद्या को अर्थात् अत्यन्त व्यर्थ विद्या की सत्ता आप क्यों मान रहे हैं? अच्छा, यदि आपने मान भी ली अर्थात् वस्तुत: नहीं है* तो फिर उस विद्या को ही जड़ क्यों न कह डाला जाए? आपसे पास बतलाइये क्या उत्तर है? ।। १३ ।।

अब एक बात अन्य भी कहेंगे, थोड़ा ध्यान दे कर सोचिये तथा उत्तर दीजिये। सुनिये

नास्ति विद्या यदि व्यर्था स्वप्रकाश प्रकाशिनी।
तदा भानोः प्रकाशाय दीपाऽपेक्षा भवेन्ननु।। १४।।

यदि स्वयम्प्रकाश को प्रकाशित करने वाली विद्या व्यर्थ नहीं है या नहीं हो सकती ऐसा ही मान बैठें, तब तो सूर्य को प्रकाशित करने के लिये दीपक की आवश्यकता पड़ेगी। तात्पर्य यह कि जिस प्रकाश स्वयं प्रकाश सूर्य को प्रकाशित करने के लिये दीपक की आवश्यकता कभी भी नहीं होती और तभी तो सूर्य स्वयम्प्रकाश कहलाता है उसी प्रकार स्वयम्प्रकाश आत्म–स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये विद्या की आवश्यकता कैसे होगी और ऐसी अनावश्क विद्या को भी उसकी आवश्यकता है? ऐसा कहना कहां तक युक्ति–युक्त होगा? तात्पर्य यह है कि इस प्रकार कहने वाले कभी भी प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते क्योंकि यह बात

** आत्मा स्वयं प्रकाशमान है। उसके प्रकाशन के लिए विद्या की सत्ता को मान लेना ही असङ्गत है। फिर यदि आप उसे मान ही लेते हैं तो निष्प्रयोजन होने के कारण वह व्यर्थ ही मानी गई विद्या तो जड़ ही सिद्ध हो जाएगी।*

सर्वथा विरूद्ध है। कारण, आपके इस कथन से विद्या ही जड़ सिद्ध होती है। अस्तु ।। १४।।

यदि यह कहें कि हम अविद्या को दूसरी प्रकार से जड़ सिद्ध करेंगे। इस पर हम यह कहते हैं कि तुम्हारे हृदय की बात हम समझ चुके हैं। सुनिये, उस बात को हम ही बतलाए देते हैं–

अविद्याऽभावरूपा चेज्जगदुत्पादिका कथम्।
यद्यस्त्यभावतो भावोत्पत्तिरङ्गीकृता न किम्।। १५।।

यदि अविद्या को अभाव–रूप ही मान लिया जाए अर्थात् विद्या की अभाव–स्वरूपिणी ही अविद्या है, अविद्या कोई वस्तु–सत् नहीं, तब हम यह पूछते हैं कि फिर वह अविद्या जगत् को उत्पन्न करने वाली कैसे हुई? तथा यदि ऐसी भी बात है तब तो अभाव से भाव की उत्पत्ति आपने मान ली न, कि नहीं?*।। १५।।

भवद्भिरास्तिकैरेवं मतं चेदास्तिका अहो।
सन्तु धन्या भवन्तोऽपि बौद्धराद्धान्तपोषकाः।। १६।।

आस्तिक कहलाने वाले आपने इस तरह यदि मान लिया तब तो बड़े आश्चर्य की बात है कि बौद्धों के सिद्धान्त को सुदृढ़ बनाने वाले आप लोग भी धन्य आस्तिक हैं या धन्य कहलाओ। तात्पर्य यह कि जगत् है किंवा नहीं, इसके उत्तर में आप अन्त में यही कहेंगे कि है ही नहीं। पश्चात् कोई पुरूष यह जब पूछता है

** अभाव से भाव की उत्पत्ति को मानते हुए आप बौद्धवाद पर उतर आए।*

कि यदि जगत् है नहीं तो प्रतीत क्यों होता है? तो आप झट यह कह बैठते हैं कि यह भ्रम है। अर्थात् कल्पित—मात्र इसकी प्रतीति है। इस पर प्रश्न करने वाला पूछता है कि यह भ्रम क्यों हुआ? अर्थात् इसका कारण क्या है। तो शीघ्र आप यह उत्तर देते हैं कि इसका कारण अविद्या है। ठीक बात है, अब हम इस पर पूछते हैं कि अविद्या क्या है? तो उस पर आपका कहना है कि वह अभाव—रूप है अर्थात् विद्या की अभाव रूप है, तात्पर्य यह कि वह सत् नहीं। तब हम पूछते हैं कि जो वस्तु है ही नहीं वह दूसरी वस्तु को उत्पन्न किस प्रकार करेगी? क्योंकि वस्तु ही वस्तु को उत्पन्न कर सकती है। यदि ऐसा न माना जाए तो आकाश के फूल की मालाएं बनेंगी, ससे के सींग के धनुष होंगे तथा बांझ के लड़के अध्यापकी करेंगे। पर क्या ऐसा कहीं देखा भी जाता है या कहीं सुना भी जाता है? अर्थात् पण्डित लोग इस बात का उत्तर यही देंगे कि नहीं ऐसा कभी देखा, सुना नहीं जाता। हां, यहां शङ्का हो सकती है कि जब आकाश—पुष्प, शश—शृङ्ग या वन्ध्या—पुत्र देखे सुने नहीं जाते तो इनकी चर्चा ही शास्त्रों में क्यों की जाती है? अथ च इन शब्दों में समास कैसे हुआ? हाँ, ठीक है। यह बात तो हमारे मत को हानि नहीं पहुंचाती प्रत्युत आपके ही गले पड़ती है। क्योंकि हमारे मत में तो यह सब वस्तुएं सत् ही हैं। क्योंकि यदि सत् न हों तो उनकी प्रतीति ही न होगी। प्रतीति चाहे "है" रूप से हो अथवा "नहीं" रूप से हो, है प्रतीति ही क्योंकि अभाव—ज्ञान में प्रतियोगि—ज्ञान की कारणता होती है*। हां एक बात और भी है, चाहे किसी की

** जिस वस्तु का अभाव हो वह वस्तु उस अभाव की प्रतियोगि वस्तु कहलाती है। किसी भी वस्तु के अभाव का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उस प्रतियोगिरूप वस्तु का ज्ञान न हो। अतः वन्ध्या पुत्र आदि के अभाव के ज्ञान के भीतर उनके भाव का ज्ञान भी अवश्य होता ही है।*

काल्पनिक प्रतीति हो या पारमार्थिक, प्रतीति तो दोनों ही हैं, इस बात को दूसरे प्रकरण में हम कह चुके हैं। परन्तु आपके पास इसका क्या उत्तर है कि जो वस्तु है ही नहीं वह किसी दूसरे वस्तु को उत्पन्न कर सके? अच्छा, यदि ऐसा ही मान लिया जाए कि अभाव–रूप अविद्या जगत् को उत्पन्न करती है, तब हम यह कहते हैं कि फिर आपने अभाव से भाव की उत्पत्ति मान ही तो ली न। क्यों, यह बात ठीक है कि आपने अभाव से भाव की उत्पत्ति मान ली? बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसा मानते हुए भी आप आस्तिक बने बैठे हैं। क्योंकि बौद्धों के सिद्धान्त में एवं आपके सिद्धान्त में क्या अन्तर रहा? कारण, बौद्ध भी अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं, ऐसा सुना जाता है। तब उन्हीं के अर्थात् बौद्धों के सिद्धान्तों के पोषक आप लोग भी अपने आपको आस्तिक मानते हुए धन्य कहलाएं। वाह !! कैसा आश्चर्य है।। १६।।

हां जी! हम यह नहीं कहते कि अभाव से भाव को उत्पत्ति होती है। किन्तु अविद्या शब्द में जो ''अ'' है, इसका अर्थ हम दूसरा ही करेंगे। तब यह आपत्ति या अनुपपत्ति अनायास ही दूर हो जाती है। हां समझ गये, क्या यही कहोगे न, सुनिये हम ही बताए देते हैं–

विपरीतज्ञानरूपाऽविद्या नाऽभावरूपिणी।
इति चेज्जडता तस्याः सुतरां नैव सिद्ध्यति।। १७।।

विपरीत ज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसी अविद्या अभाव–रूपिणी नहीं, ऐसा यदि माल लें तब तो अविद्या की जड़ता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि अविद्या अर्थात् विपरीत–ज्ञान तथा विद्या अर्थात् सीधा ज्ञान अर्थात् आत्म–स्वरूप

को आत्म–स्वरूप से देखना, इसका नाम विद्या है एवं आत्मस्वरूप को जगद्रूप से देखना, इसका नाम अविद्या है। एवं च विपरीत ज्ञान का अर्थ यह नहीं होता कि वह है ही नहीं अर्थात् उसका सर्वथा अभाव है। तब यह कैसे कह सकते हैं कि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी? यदि आप ऐसा कहेंगे तब तो आ गये, आ गये आप हमारे सिद्धान्त पर। हमारी बात अब आपको शीघ्र ही अवगत हो जाएगी। देखिये, आपने अविद्या को विपरीत ज्ञान मान लिया तब आप उस विपरीत ज्ञान को अर्थात् अविद्या को जड़ कैसे सिद्ध कर सकेंगे*? उक्त युक्ति से कथमपि तथा कदाऽपि केवल अविद्या को जड़ सिद्ध करना सम्भव नहीं हो सकता।। १७।।

पूर्वोक्त बात को हम सिद्धान्त रूप से थोड़ा सा फिर समझा देते हैं। सुनिये–

परीता विपरीता वा विद्या विद्यातया तु सत्।
वैपरीत्यं सौपरीत्यं कल्पितं केवले सति।। १८।।

सीधी हो या टेढ़ी, विद्या–रूप से तो सत् ही है। टेढ़ापन या सीधापन केवल सत् के आधार पर कल्पित होता है। तात्पर्य यह कि सीधा ज्ञान कहो या टेढ़ा ज्ञान, हैं तो दोनों ज्ञान ही। तात्पर्य यह, ज्ञान की दृष्टि से देखा जाए अर्थात् विद्या की दृष्टि से देखा जाए तो यह मानना ही पड़ेगा कि वह विद्या ही

** ज्ञान चेतन होता है। अत: विपरीत ज्ञान भी ज्ञान ही होता हुआ चेतन ही सिद्ध होगा।*

हैं*। अर्थात टेढ़ापन तथा सीधापन, ये दोनों कल्पित् किये जाते हैं। और उन कल्पनाओं का आधार कोई वस्तु–सत् है। तथा वह केवल अर्थात् मयूराण्डरसन्यास से पूर्ण समरस है**। अर्थात् उस सत् वस्तु में आपेक्षिक 'नहीं' और 'है' इन दोनों के समरस आधार में विद्या एवं अविद्या इन दोनों का बीज है। तात्पर्य यह कि कल्पित होने वाली दोनों विद्या तथा अविद्या किसी दृष्टि से जड़ एवं किसी दृष्टि से चेतन सिद्ध हो जाती हैं। तथा उसका मूल आधार कुछ है। समझने के लिये उसको महाविद्या या महामाया या पूर्ण–स्वातन्त्र्य या पूर्ण–चैतन्य कह सकते हैं। कारण, यह आत्म–विलास–रूप है अस्तु।।१८।।

यहां अन्य भी एक प्रकार का समाधान लोग किया करते हैं जिससे विद्या को चेतन अथ च अविद्या को जड़ सिद्ध करना चाहते हैं, लीजिये हम उसका भी उत्तर दिये देते हैं। सुनिये–

जीवस्य स्वात्मविज्ञानसाहाय्यकरणादसौ।
चेतना कीर्त्यते विद्या इति चेत् स्थूलदृग्भवान्।।१९।।

जीव को अपने आत्मस्वरूप के अनुभव करने में सहायता करने के कारण यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली अर्थात् प्रसिद्ध विद्या चेतन कहने के योग्य होती है। यदि ऐसा ही मान लिया जाए तो हमारा कहना यह है कि आपकी दृष्टि मोटी है।

** तात्पर्य यह है कि अविद्या भी ज्ञान रूप होती हुई विद्या ही है। विपरीतता उसमें कल्पित है। कल्पित को हटाकर शेष वह शुद्ध ज्ञान रूप ही रह जाती है।*

*** वह मूलभूत समरस तत्त्व ही अपने विलास के द्वारा कल्पना करता हुआ एक ओर से विद्या के रूप में और दूसरी ओर से अविद्या के रूप में प्रकट होता रहता है।*

तात्पर्य यह कि कोई लोग एक युक्ति–वाद ऐसा भी लड़ाया करते हैं कि विद्या को चेतन कहना ठीक है, कारण, यह विद्या जीव को "मैं कौन हूँ" अर्थात् 'मेरा स्वरूप क्या है तथा कैसा है?' इस बात का अनुभव करने के लिये सहायता पहुंचाती है। इसलिये विद्या को चेतन कहना चाहिये। आपका यह कहना सुनकर हमें यही कहना पड़ता है कि आपकी दृष्टि मोटी है सूक्ष्म नहीं। तात्पर्य, स्थूल दृष्टि से किया हुआ निर्णय मान्य नहीं हुआ करता॥ १९॥

देखिये हम आपको फिर समझाते हैं, सावधान होकर सुनिये–

जीवता कुत आयाताऽविद्यया वाऽथ विद्यया।
अविद्यया चेत् जीवत्वोल्लासिनी चेतना न किम्॥ २०॥

जीवता कहां से आई, अविद्या से, कि विद्या से? यदि अविद्या से कहो तो जीवत्व को उल्लासित करने वाली अर्थात् अविद्या चेतन न होगी क्या? तात्पर्य यह कि पहले आपके कहने पर हम यह पूछते हैं कि जीव को आत्म–स्वरूप का बोध कराने के लिये सहायता करने वाली प्रकट विद्या चेतन कहने के योग्य है तथा इसीलिये चेतन कही भी जाती है तो पहला प्रश्न यह है कि जीव–भाव किस से आया, अविद्या से कि विद्या से? साथ–साथ यह भी प्रश्न हो सकता है कि जीव–भाव किसको प्राप्त हुआ? तो पहले प्रश्न का उत्तर आप यही तो देंगे कि जीव–भाव अविद्या से आया विद्या से नहीं। कारण, अविद्या अर्थात् विपरीत–ज्ञान अर्थात् अपने आपको जीव–रूप से देखना तथा विद्या अर्थात् सीधा

ज्ञान अर्थात् अपने आपको निजी रूप से देखना। दूसरे प्रश्न का उत्तर आप यही देंगे न कि जीव–भाव अपने आप ही अर्थात् आत्मस्वरूप ने ही प्राप्त किया तो हम यह कहते हैं कि उसने अर्थात् आत्म–स्वरूप ने जीव–भाव किसके सहारे प्राप्त किया? इस पर आप उत्तर यही तो देंगे कि अविद्या के सहारे। तब हम कहते हैं कि वह अविद्या, जो कि जीव–भाव के उल्लासन करने में सहायता पहुंचाती है, क्या वह चेतन नहीं कही जाएगी? अर्थात् चेतन कहना ही पड़ेगा*। तब फिर यह क्या कि विद्या को चेतन कहा जाता है। विद्या को चेतन कहने मात्र से अविद्या को जड़ कहना सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत जब जीव और आत्म–स्वरूप भिन्न हैं ही नहीं तब उस स्वरूप को सहायता पहुंचाने वाली एक शक्ति को चेतन कहना तथा दूसरी को जड़ कहना यह कहां का न्याय है? अस्तु। यहां तक के विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि एक को केवल जड़ मानना तथा दूसरे को केवल चेतन मानना एवं दोनों की कल्पितता स्वीकार करना, यह सर्वथा उन्मत प्रलाप–मात्र ही है **। अत: विद्या और अविद्या चेतन भी हैं तथा जड़ भी हैं ऐसा सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि कल्पित–मात्र जड़ भी हैं और चेतन भी।। २० ।।

अब हमारे मत में दोष क्यों नहीं आता तथा वह मत क्या

** जीवभाव की सृष्टि का मुख्य कारण बनी हुई और आत्मा के भीतर उस सृष्टि के सामर्थ्य को ठहराती हुई अविद्या को अवश्य ही चेतन मानना पड़ेगा क्योंकि सृष्टि का कारण जड़ नहीं होता है।*

*** कल्पित होने के कारण दोनों जड़ हैं और ज्ञान रूप होने के कारण दोनों ही चेतन भी हैं। जड़ जगत् भी तो आत्मरूप होता हुआ चेतन भी है, फिर अविद्या के चेतन होने में सन्देह ही नहीं।*

है। इस बात का विवेचन करते हुए धीरे—धीरे प्रकरण—समाप्ति की ओर बढेंगे। सुनिये—

अस्मन्मते त्वविद्या वा विद्या वा नास्ति तत्त्वतः।
महाविद्या स्वात्मरूपा समुल्लसति सर्वतः ॥ २१॥

हमारे मत में तो अविद्या या विद्या वस्तुतः नहीं है, अतः हम यह कहते हैं कि अपने आप स्वरूप—भूत सर्वत्र तथा सर्व—प्रकार महाविद्या ही चमक रही है*॥ २१ ॥

अधिक क्या कहें यह सिद्धान्त है, सुनिए—

कल्पकः कल्पना क्लृप्तं स्वात्मोल्लासैकमात्रकम्।
सच्चिदानन्दस्वरूपं ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ॥ २२॥

कल्पक, कल्पना तथा क्लृप्त अपने आत्म—स्वरूप का एकमात्र उल्लास है। तथा यह सब सच्चिदानन्द—स्वरूप है। इससे अन्य कुछ भी नहीं है। तात्पर्य, हमारे मत में कोई भी दोष आ नहीं सकता परन्तु यह भी नहीं कि दोष के न आने से अपूर्णता रह जाती है, कारण, यहां यदि दोष आएगा भी, तो भी गुण—रूप ही हो जाता है। सूर्य यदि रात में ही उग जाए तो क्या फिर वह दिन नहीं हो जाएगी? हां, हमारे मत में विद्या और अविद्या इनकी वस्तुतः सत्ता नहीं है। तात्पर्य यह कि कल्पित की वस्तु—सत्ता नहीं

** एक मात्र महाविद्या ही वस्तुतः है। वही महामाया होती हुई अपने आप के ही भीतर विद्या और अविद्या को अपनी ही कल्पना के द्वारा प्रकट करती रहती है। तो वस्तुतः विद्या और अविद्या दोनों महाविद्या ही हैं। अतः इस सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता है।*

मानी जाती। अत एव उसको कल्पित कहते हैं। सम्पर्णू कल्पनाओं की एक –मात्र समरस आधार–स्वरूप महाविद्या आत्म–स्वरूपिणी सभी ओर से तथा सभी प्रकार से भली भांति अर्थात् अनिर्वचनीयरूप से चमक रही है। वस्तु–सत् पदार्थ को कल्पित द्वैत मान कर समझाने के लिये उस वस्तु को विद्या और अविद्या के रूप में कल्पना से ही ठहरा कर इनके एक–मात्र समरस आधार–स्वरूप को महाविद्या कह दिया है। अन्यथा मौन ही श्रेयस्कर होगा। इस बात को मङ्गलाचरण में ही कह दिया है। पर इससे यह नहीं कि उसका वर्णन कुछ भी न हो सके। तात्पर्य केवल इतना ही है कि पूर्ण–रूप से स्वरूप–निर्णय वाणी के विषय में आ नहीं सकता। इसलिये हम यह कह रहे हैं कि कल्पक अर्थात् कल्पना करने वाला, कल्पना अर्थात् कल्पक का व्यापार तथा क्लृप्त अर्थात् जिसकी कल्पना की गई, ये तीनों भाव अपने आत्म–स्वरूप के एक–मात्र उल्लास–स्वरूप हैं अर्थात् यह त्रिपुटी वस्तु–सत् नहीं। केवल कल्पित की जाती है। इसीलिये इस त्रिपुटी–स्वरूप अनन्त–कोटि ब्रह्माण्ड को सच्चिदानन्द–स्वरूप कहते हैं। कारण, इसका कन्द अर्थात् इसका पूर्ण–सम–रस कारण परिपूर्ण स्वातन्त्र्यभूत मूल आत्म–स्वरूप है। उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु कोई भी नहीं। अर्थात् आत्म–स्वरूप से अतिरिक्त की कभी भी शङ्का ही नहीं होती, कारण, जो वस्तु कभी होती ही नहीं उसकी शङ्का या समाधान नहीं हुआ करते। शङ्का–समाधान तो सद्–वस्तु के लिये ही हुआ करते हैं। सद्–वस्तु कल्पित हो अथवा अकल्पित, शङ्का समाधान उसी के लिये आएगा। इससे यह न समझना कि आत्मस्वरूप के महामाया स्वरूप से अवस्थितता में शङ्का–समाधान नहीं होता इसलिये उसको असत् कहना। इस बात को पहली कारिका के निरूपण में हम सिद्ध कर चुके हैं। तथा द्वितीय प्रकरण में भी सिद्ध कर दिया गया है कि कुछ कहते न बनने पर भी आत्म–स्वरूप की अखण्ड–सत्ता अक्षुण्ण बनी ही रहती है।। २२।।

अब महाविद्या–प्रकरण का उपसंहार करते हुए एक बार पुनः उसके अर्थात् महाविद्या के स्वरूप का सिद्धान्त कह देते हैं। सावधान होकर सुनिये–

सदसद्वर्जिता सैषा सदसद्व्यवहारभूः।
विश्वोत्तीर्णा विश्वमयी स्वात्मरूपा विराजते ॥२३॥

सत् और असत् इनसे वर्जित, वह यह सत् और असत् इन व्यवहारों की एक–मात्र अधिष्ठान, विश्व से उत्तीर्ण तथा विश्व–स्वरूपिणी, इसीलिये अपने आप–रूप यह महाविद्या विराज रही है। तात्पर्य यह कि व्यवहार में अर्थात् वह व्यवहार जाग्रत्क हो, स्वाप्न हो अथवा सौषुप्त हो, तात्पर्य यह कि सत् तथा असत् ये जो आपेक्षिक परस्पर–विरोधी अत एव परस्पराऽवलम्बित तथा परमार्थतः अवस्तु–भूत कल्पनाएं होती हैं, अथवा न होती हैं, उन सम्पूर्ण कल्पनाओं से वर्जित, अर्थात् अस्पृष्ट अथवा पूर्वोक्त कल्पनाओं को आत्माऽतिरिक्त–स्वरूप के समान भासित करने वाली*। यहां इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि व्यवहार की सत्ता सुषुप्ति पर्यन्त किसी न किसी रूप से अवश्य ही रहती है। जाग्रद्–व्यवहार में पदार्थों का अनुसन्धान थोड़ा बहुत प्रायः सभी को होता है। तथा वहां क्रिया–शक्ति की विकसितता विशेष होती है, वहां तमोगुण का भी उल्लास विशेष रहता है। अत एव उसको स्थूल व्यवहार कह सकते हैं। वहां की दृश्य सत्ता को व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। वैसे तो इस जाग्रत्–अवस्था के पदार्थों में अर्थात् व्यावहारिकतया

** कल्पनाएं आत्मस्वरूप ही होती है, परन्तु कल्पना करने वाला उन्हें अपने से भिन्न रूप में स्वयं अपने स्वातन्त्र्य से ठहराता है। अतः विद्या और अविद्या को महामाया स्वयमेव अपने से भिन्नरूप में ठहरा कर प्रकट करती रहती है।*

प्रतीयमान पदार्थों में भी प्रातिभासिक अर्थात् स्वप्न तथा उससे सूक्ष्म अर्थात् अप्रतीयमान पदार्थ–सत्ता, अर्थात् सौषुप्त–पदार्थ–सत्ता, यह भी रहती ही है। फिर भी, व्यावहारिक–पदार्थ–सत्ता प्रधान–रूप से प्रकाशमान होने के कारण, जाग्रदवस्था के पदार्थों की सत्ता को व्यावहारिक कहते हैं। इसी प्रकार स्वाप्न–पदार्थ–सत्ता को रजोगुण विशेष होने से अर्थात् ज्ञान–शक्ति का कुछ विकास प्रकट होने से उस स्वाप्न–सत्ता को व्यवहार–सत्ता की अपेक्षया सूक्ष्म होने से अर्थात् व्यवहार–सत्ता की कारण होने से उसको प्रातिभासिक कहते हैं। परन्तु ठीक देखा जाए तो यह भी व्यावहारिक सत्ता ही है। परन्तु जाग्रत् की अपेक्षया सूक्ष्म होने से तथा जाग्रत् की कारण होने से भी इसको स्वप्न कहते हैं। स्वप्न में प्रतीत पदार्थ–सत्ता का अनुसन्धान पूर्णरूप से किसी साधन–सम्पन्न पुरुष के बिना किसी अन्य साधारण जन को नहीं होती। यद्यपि साधारण पुरुषों को भी कुछ कुछ हो जाता है। तो भी पूर्णरूप से न होने के कारण ही व्यावहारिक पुरुष इसको प्रातिभासिक कहा करते हैं। ज्ञान–शक्ति का विकास जिन पुरुषों में अधिक हुआ होता है उनको स्वाप्न सृष्टि का भी अनुसन्धान भली प्रकार होता है। ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का ही विकास जिनमें है तथा इच्छा–शक्ति का विकास नहीं है, उन पुरुषों को सौषुप्त व्यवहार, जो जाग्रत् एवं स्वप्न का कारण हुआ करता है, उसका अर्थात् सौषुप्त–व्यवहार का अनुसन्धान नहीं होता। उसके लिये इच्छा–शक्ति का बहुत अधिक विकास चाहिये। वह व्यवहार अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत

नहीं होता। वह अवस्था अर्थात् सुषुप्ति–अवस्था सत्त्व–प्रधान है। तथा उस अवस्था में भी अनुसन्धान करने वालों को सूक्ष्म व्यवहार का अनुसन्धान हो जाता है*। एवं ऐसे पुरुषों को योगि–विशेष कहते हैं। इन तीनों व्यवहारों का या तीनों अवस्थाओं का एक–रस महाकारण आधार तूरीया जो कि विशुद्ध सत्त्वरूप है, वहां व्यवहार का अर्थात् सम्पूर्ण जाग्रत्क, स्वाप्न तथा सौषुप्त व्यवहार का बीज महाविद्या रूप ही होता है। तथा वहां इनका कथमपि भेद–भाव नहीं होता। अथ च इसी तुरीया की पूर्णता को तुरीयाऽतीता कहते हैं। इसलिये हमने 'सदसद्वर्जिता' ऐसा कहा** साधारण लोगों को अर्थात् कार्यरूप से अवस्थित अखिल सृष्टि को, परोक्ष होने से 'सा' ऐसा कहा। परन्तु कारणाऽवस्था में अवस्थित वही आत्म–रूप से अपरोक्ष होने के कारण 'एषा' कहा। इन्हीं बातों को दृढ़ बनाने के लिये आगे भी थोड़ा सा विवेचन कर देते हैं। सुनिये, सत् तथा असत् अर्थात् आपेक्षिक 'है' और 'नहीं' से वर्जित, ऐसी होने पर भी सत्–असत् व्यवहार की समरस अधिष्ठान है। अर्थात् जाग्रत्क, स्वाप्न ये दोनों पदार्थ 'हैं', ऐसे प्रतीत होते हैं, इसीलिये उनको सद्–व्यवहार कहते हैं। सौषुप्त पदार्थों का अनुसन्धान साधारण लोगों को न होने से वे उस व्यवहार को असत् कहते हैं। अत एव सौषुप्त व्यवहार को

** तात्पर्य यह है कि जाग्रत् की तरह स्वप्न में और सुषुति में भी व्यवहार होता है। अत: इन तीनों ही दशाओं में ठहरे हुए पदार्थों की सत्ता वस्तुत: व्यावहारिक ही होती है। परन्तु फिर भी जन साधारण को उस व्यवहार का स्फुट ज्ञान न होने के कारण स्वप्न सम्बन्धी पदार्थों की सत्ता प्राति–भासिक और सौषुप्त सत्ता को कारण सत्ता कह कर एक मात्र जाग्रत् अवस्था की सत्ता को ही व्यावहारिक सत्ता कहा जाता है। ऐसी शास्त्र प्रक्रिया है।*

*** वह सत्ता और असत्ता की आधारभूत समरस महासत्ता होती है।*

असद्व्यवहार कहते हैं। सम्पूर्ण व्यवहारों की समरस अधिष्ठानस्वरूप तुरीया है। तुरीया में कुछ भी नहीं होता। तात्पर्य केवल महाविद्यास्वरूप ही रहता है अर्थात् यहां तुरीया अर्थात्, तुरीयातीत भी समझना। इसीलिये विश्व अर्थात् सुषुप्तिपर्यन्त से उत्तीर्ण अर्थात् अतीत। परन्तु यह पूर्ण स्वतन्त्र होने से, अर्थात् सच्चिदानन्दकन्द होने से, तथा आत्म–विलास–रूप होने से, यह विश्वमयी अर्थात् सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रदूप–प्रचुर भी है*। कारण, यह सम्पूर्ण मिलकर एक अद्वितीय समरस अखण्ड अनिर्वचनीय होने पर भी पूर्ण होने के कारण निर्वचनीय**, ऐसी महाविद्या विराजित अर्थात् विचित्र–रूप से, विशेष–रूप से, विगत–रूप से, विवर्त्त–रूप से, या विकास–रूप से, अथवा सम्पूर्ण विलास–रूप[x] से शोभित हो रही है।[+] अर्थात् चिद्रूप है।। २३।।

** वह महाविद्या समस्त व्यवहार का कारण और आधार है, परन्तु समस्त व्यवहार से अतीत भी है। अत: उसे विश्व से उत्तीर्ण भी कहा गया है और विश्वमयी भी कहा गया है।*

*** वह मन और वाणी से अगोचर होने के कारण अनिर्वचनीय है। परन्तु समस्त व्यवहार का आधार और कारण होने के कारण उसका निर्वचन अर्थात् स्वरूप प्रतिपादन किया भी जा सकता है। इसी से तो शास्त्र कहे जाते हैं।*

[x] ये सभी प्रकार के अर्थ विराजते पद के होते हैं। यहां 'वि' इन अनेकों अर्थों को द्योतित करता है।

[+] विराजते :– विचित्रतया राजते, विशेषतया विशेषरूपतया वा राजते, विश्वमयतया अभिव्यक्तौ, विश्वोत्तीर्णतयातु विगतरूपतया राजते, संसारस्य तद्विवर्त्तत्वात् संसारात्मकतया विवर्त्तरूपतया वा राजते, विश्वस्य तद्विकासात्मकत्वाद् वा विकासरूपतया राजते, सर्वस्य बन्धमोक्षवैचित्र्यस्य सृष्टिसंहारादेश्च तद्विलासात्मकतया विलास–रूपतया राजते इत्येते सर्वेऽर्था: विराजतेपदस्य ''वि'' इत्यनेन उपसर्गेण राजृधातो: द्योत्यन्ते।

यद्यपि जो कुछ कहने योग्य अर्थात् अत्यन्त आवश्यक था उसका निरूपण कर दिया गया, पुनरपि सम्पूर्ण प्रकरण का सारांश पुनः एक बार कह दिया जाता है। सुनिये—

शिवाऽऽकाराऽपारा भवजलधिसारा गुरुवरा
कृपापारावारा भजदमृतधाराधरवरा ॥
उमाकारोङ्कारा निजसहजसौन्दर्यरमणी
महाविद्या सेयं जयति परमानन्दरमणी ॥ २४॥

वह यह अर्थात् परोक्ष तथा अपरोक्ष महाविद्या जो कि शिवाऽऽकारा है तथा जिसका कोई पार नहीं है, संसार रूपी समुद्र में श्रेष्ठ है अथवा शिवरूपी समुद्र की रत्न—भूत या शिव* की आत्मस्वरूप है। इसीलिये गुरु—श्रेष्ठ—रूपिणी है अथवा अज्ञान नाशिनी है, कृपा की समुद्र है, भक्तों के लिये अमृत की वृष्टि करने वाली मेघ—श्रेष्ठ है। जिसको श्रुतियों में, उपनिषदों में, तथा अन्याऽन्य तन्त्र—ग्रन्थों में तथा पुराणों में 'उमा' ऐसा कहा है। अर्थात् उमा का आकार धारण करती है। जो नित्य ॐकार है अर्थात् प्रणव है। अपने स्वाभाविक सौन्दर्य में रममाण रहती है। तथा जो परशिव परमेश्वर को परिपूर्ण आनन्द देने वाली तथा उपासकों को भी परमेश्वर के आनन्द को देने वाली सकल तत्त्व—स्वरूपिणी परिपूर्ण महाविद्या है। वह सर्वोत्कर्ष से है। अर्थात् उसका ही जय जयकार है।। १४।।

महाविद्यासुस्वरूपं महाविद्यास्वरूपिणा।
निरूपितं महाविद्याऽऽनन्दोल्लासा केवलम्।।२५।।

** भव शब्द का अर्थ संसार भी होता है और शिव भी।*

महाविद्या का सुन्दर स्वरूप, महाविद्या–स्वरूपी से केवल महाविद्या के आनन्द के उल्लास के लिये निरूपित किया गया। तात्पर्य यह कि महाविद्या के स्वरूप का भली भांति जिनको ज्ञान करना हो वे महाविद्या के स्वरूपभूत, कारण, महाविद्या का स्वरूप महाविद्या के सिवा कौन जान सकता है? अत: जो कोई उसके अर्थात् आत्मस्वरूप महाविद्या के अनुग्रह से स्वरूप को जान ले तो फिर वह महाविद्या–स्वरूप ही तो होगा। अत: यह कहा कि महाविद्या–स्वरूपी ने ही इसका निरूपण किया है*। तथा वह भी केवल अपने आत्म–विलासस्वरूप महाविद्या के आनन्दोल्लास के लिये निरूपित किया गया। तात्पर्य यह कि महाविद्या का स्वरूप निरूपण करने वाला तथा महाविद्या का स्वरूप और उसका प्रयोजन, यह सब एक अद्वितीय केवल महाविद्या ही है। इसीलिये इसको पढ़ने वाले भी महाविद्या स्वरूप ही हैं। तब यह एक अलौकिक ही चमत्कार है तथा इसी को आत्मविलास कहते हैं।।२५।।

इति श्री–महामहिम–आचार्य–श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते
स्वोपज्ञ'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुद्भासिते
आत्मविलासे महाविद्‍यास्वरूपनिरूपणं
नाम चतुर्थं प्रकरणम्।

** तात्पर्य यह है कि शास्त्रकार ने पहले महाविद्या के स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त किया। उससे वह मानो कि महाविद्या स्वरूप ही स्वयं बन गया। तब उसने अपने आनन्द के लिए महाविद्या के तत्त्व का यह निरूपण किया। अत: यह निरूपण सर्वथा यथार्थ और ग्राह्य है।*

॥ श्रीः ॥

पञ्चमं प्रकरणम्

— :०: —

नैर्मल्यनिरूपणम्।

पूर्व प्रकरण में विद्या तथा अविद्या इनकी कल्पित सत्ता को मान कर जडाऽजडता का निरूपण करते हुए वस्तु–सत् उनका स्वरूप महाविद्या का निरूपण कर दिया गया है। प्रसङ्ग से यह भी कह दिया कि महाविद्या, पूर्णस्वातन्त्र्य, पूर्णचैतन्य यह सब एक ही है। एवं इसका अनेक रूपों से प्रकाशित होना, यही आत्मविलास है। साथ–साथ यह भी कह दिया गया कि सम्पूर्ण जागतिक जडाऽजड–विभाग–व्यवहार का एक मात्र समरस अधिष्ठान महाविद्या है। इसी प्रसङ्ग से यहां एक और शङ्का होती है कि यह सम्पूर्ण व्यवहार पाप–पुण्यमय है। अत एव कोई सुखी तो कोई दुःखी दीख पड़ता है। तथा इसीलिये पण्डित लोग किसी को बद्ध तो किसी को मुमुक्षु, किसी को साधक तो किसी को सिद्ध ठहराते रहते हैं। इसका कारण क्या, एवं इसका उद्देश क्या है? यदि परमात्म–स्वरूप सर्वदा एकरस ही है तो फिर ये बन्ध, मोक्ष, पाप, पुण्य, कहां से आये एवं कैसे आये तथा कौन बद्ध हुआ? यह शङ्का होती है।

यद्यपि इन प्रश्नों का उत्तर पहले तीन प्रकरणों में सूक्ष्म–दृष्टि से देखने वाले बुद्धिमानों को मिल जाएगा फिर भी सर्वसाधारण लोगों को सम्यक् इन बातों का उत्तर मिलना उन प्रकरणों में कठिन सा ही जान पड़ेगा। अत: उन्हीं पाप–पुण्यों के तथा उनके उत्पादक कर्मों के विषय में सिद्धान्त सुसङ्गत कौन सा है, यह इस प्रकरण में कहा जाएगा। साथ–साथ यह भी कह दिया जाएगा कि वस्तुत: निर्मलता क्या है? अब प्रकरण–प्रारम्भ मङ्गलाचरण तथा सम्पूर्ण प्रकरण का बीजभूत सिद्धान्त दिखलाया जाता है। सुनिये–

सम्पूर्णमलनैर्मूल्यशासनोल्लासनोदित:।*
मलाऽस्पृष्टो विजयते परम: परमेश्वर: ॥ १ ॥

सम्पूर्ण मलों का निर्मूलन करने वाले शास्त्रों के प्रकाशन से उगा हुआ ज्ञात होता है अथवा सम्पूर्ण मलों के निर्मूलन–स्वरूप विधि–विधानों के प्रकाश का प्रेरक, अथवा सम्पूर्ण धर्माऽधर्मों के निर्मूलन करने वाले शास्त्रों का प्रकाश स्वरूप वर्णित है। वह परम कल्याणस्वरूप सम्पूर्ण–शक्ति–स्वरूप परशिव परमात्मा मलों से अत्यन्त अस्पृष्ट विशेष रूप से या विचित्र रूप से, तात्पर्य यह कि सर्वोत्कर्ष से उत्कृष्ट हो रहा है अर्थात् सर्वथा तथा सर्वत्र उसकी विजय है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण मलों का अर्थात् मलों के जितने

** सम्पूर्णानां–सर्वेषां मलानां नैर्मूल्यकरणचणं यच्छासनं–शास्त्रजातं तस्योल्लासनेन–प्रकाशनेन उदित:–प्रकटित: परमेश्वर:, अथवा समस्तमलनिर्मूलकं यच्छासनं विधिविधानरूपं, तस्य उल्लासस्य नोदिता–प्रेरयिता, अथवा सर्वेषां धर्माधर्मरूपाणां मलानां नैर्मूल्यकरणस्य सम्बन्धि यच्छासनं–शास्त्रजातं तस्योल्लासनं प्रकाशनं, तदेव उदित:–कथितो विद्वद्भिरिति शेष:। शास्त्रप्रकाशनकर्ता सन् शास्त्रप्रकाशनमेवासौ तै: कथित:।*

भी प्रकार हो सकते हैं, उतने सम्पूर्ण मलों का जैसे कि साधारण तौर पर मल के तीन भेद होते हैं*। पुनः ये तीन ही अन्याऽन्य कल्पित तारतम्य से अनन्त प्रकार के हो जाते हैं। साधारण तौर से हम उन तीनों को आरोह–क्रम से स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण ये नाम देते हैं। इनमें स्थूल–मल को अन्य लोग 'कार्म', सूक्ष्म को 'मायीय' तथा कारण को 'आणव' कहा करते हैं। इस बात का विवेचन हम आगे करेंगे। यहां पर इतना ही समझ रखिये कि यह मल आत्मस्वरूप ही होने पर भी कल्पित अनात्म–भाव मान कर उसको मल कहने का व्यवहार सा पड़ गया है। सम्पूर्ण मलों का पूर्णरूप से निर्मूलन करने वाले अर्थात् इन मलों के निर्वाण करने का उपाय जिनमें बतलाया गया है ऐसे शास्त्रों के चमकाने से, जो उगा हुआ सा जान पड़ता है। तात्पर्य यह कि उदय अस्तङ्गत का हुआ करता है, परन्तु जिस का कभी अस्त हुआ ही नहीं, उसका उदय कैसा? इसलिये ऐसा कहा कि उगा हुआ सा ज्ञात होता है। तात्पर्य यह कि मल–स्वरूप पुण्य तथा पाप इन दोनों के निर्मूलन अर्थात् पूर्ण रूप से मिटाने का उपाय जिन में बतलाया गया है, ऐसे शास्त्रों का प्रकाशन भी जिसने किया अर्थात् उसी परमात्मा ने पुण्य–पापों की कल्पना भी की है तथा उनको

** मल अज्ञान को अर्थात् अपने विषय में अपूर्ण या अतएव उल्टे ज्ञान को कहते हैं। आत्मा परिपूर्ण हैं। परन्तु जीव अपने आपको अपूर्ण समझता है। यह उसका आणव–मल है। आत्मा एक है और अभिन्न है। परन्तु जीव अपने आपको भेद दृष्टि से देखता और तदनुसार ही समझता है। यह भेद दृष्टि उसका मायीयमल है। जीव के शरीर से इन्द्रियों से और मन से जो कर्म किए जाते हैं उनके विषय में उसे यह अभिमान भी रहता है कि ये कर्म मैं करता हूँ और उन कर्मों का संस्कार भी उसे रहता है। यह कर्मों के प्रति कर्तृत्व का संकुचित अभिमान और उनका संस्कार कार्ममल होता है। जन्म–मरण का साक्षात् कारण यह कार्ममल ही होता है।*

निर्मूलन करने वाले शास्त्रों का प्रकाशन भी किया, इससे ज्ञात होता है मानो उसका अस्त हो गया था सो अब उदय हो गया, मेघाऽऽच्छन्न सूर्य को मेघों के हट जाने पर जैसे हम कहते हैं कि ओ हो!! अब सूर्य प्रकाशित हुआ परन्तु वास्तव में देखा जाए तो सूर्य पहले भी वैसा ही प्रकाशित था जैसा कि अब है, बीच में मेघों की कल्पना के कारण अनुदित सा जान पड़ता है। अथवा जैसे पृथिवी के घूमने के कारण जिस ओर पृथिवी तथा सूर्य का साम्मुख्य होता है उस ओर सूर्य उदित हुआ ऐसा कहा जाता है, परन्तु ठीक देखा जाए तो सूर्य का उदय कुछ नया नहीं हुआ वह पहले से ही उदित था। इसी प्रकार आत्मस्वरूप उत्पन्न हुआ सा ज्ञात होता है। इसका कारण उसके अपने आपको मलों की कल्पना तथा उनके निर्मूलन की कल्पना ही हुआ करती है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि सम्पूर्ण मलों के मिटाने वाले विधि–विधानों के उल्लासन का जो प्रेरक है। तात्पर्य यह कि मलों का निर्मूलन जैसे किया जाता है उन विधि–विधानों के प्रकाश का भी जो प्रेरक है अर्थात् पाप–पुण्यादि के सम्पादक तथा विध्वंसक जो कर्म, अकर्म एवं विकर्म, उन सबों के प्रकाश का भी जो प्रेरक है, अर्थात् इन सबों का जो एक कारण है अथवा यों कहिये कि सम्पूर्ण मलों के अर्थात् धर्माऽधर्मादि समस्त स्थूल सूक्ष्म कारणों के उदय एवं अस्त अर्थात् सम्पादन तथा विध्वंसन बतलाने वाले शास्त्रों में प्रकाशरूप से वर्णित है, तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण शास्त्रों में तात्पर्य–रूप से यह कहा गया है कि समस्त कर्मकाण्ड का, वह कर्मकाण्ड चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, उन सबों का तथा उनके फलों का जिन शास्त्रों में वर्णन है, उन सम्पूर्ण शास्त्रों में इस सच्चिदानन्द के प्रकाश का ही वर्णन है। इसलिये भी जो स्वत: सिद्ध है, ऐसा परम कल्याण–स्वरूप सम्पूर्ण प्रकार के ऊंचे से ऊंचे ऐश्वर्यों से सम्पन्न वह परमेश्वर सच्चिदानन्दकन्द शम्भु, जो कि किसी भी मल से तथा कभी भी स्पृष्ट नहीं होता, तात्पर्य यह कि कल्पित वस्तु की वस्तु–सत्ता न होने से स्पर्श

असम्भव ही है। जैसे शश—श्रृङ्गादिक कल्पित होने मात्र से ही अर्थात् उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता न होने से उनका स्पर्शादिक व्यावहारिक जगत् में किसी प्रकार हो नहीं सकता। वैसे ही वस्तु—सत् परमात्म—स्वरूप से कल्पित मलों का स्पर्श हो नहीं सकता। ऐसे परशिव परमात्मा का विचित्र रूप से अर्थात् जिसका कोई विशेष लक्षण नहीं हो सकता उसका जय जयकार है। अर्थात् उसी की सर्वत्र विजय है।। १।।

पहली कारिका में यह कहा गया कि परमेश्वर मलों से अर्थात् धर्माऽधर्मादि तथा तज्जनक स्थूल कर्म तथा धर्माऽधर्मादि जनक स्थूल—कर्मों के भी जनक, जो सूक्ष्म कर्म उन सभी मलों से जो कभी भी स्पृष्ट नहीं होता, उस प्रभु की विजय है। वहां अब यह प्रश्न होता है कि जब उन मलों का स्पर्श नहीं होता, तो वे मल आए कहां से, तथा क्यों आये? अर्थात् उन मलों की उत्पत्ति क्यों की गई, एवं उन मलों से लाभ अथवा हानि क्या है, तथा वह कौन हैं? अर्थात् मल किस वस्तु से बनते हैं? इन सभी प्रश्नों के उत्तर इस प्रकरण में दिये जाएंगे। यद्यपि ऐसी घोषणा इसी प्रकरण के प्रथम कारिका के अवतरण में कर दी गई है तथाऽपि स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ यहां कहा है। अब पहले हम इस बात को कहेंगे कि मलों से नित्य—मुक्त ही, यदि परमेश्वर है तब बद्ध के समान अथवा बद्ध ही जो कोई देखने में आ रहा है, वह कौन है? सुनिये—

स्वात्मकल्पितमालिन्यमलिनो जीवतां भजन्।
मुक्तोऽपि बद्ध इव सन् संसारित्वं प्रपद्यते।। २।।

अपने आप कल्पित की गई मलिनता से मलिन जीव—भाव को पाता हुआ मुक्त भी बद्ध के समान हो कर संसारिता को पाता है। तात्पर्य यह कि वस्तुतः देखा जाए तो आत्माऽतिरिक्त वस्तु के

अत्यन्ताऽभाव होने से अर्थात् अनुभवी पुरुषों ने सम्पूर्ण श्रुति–स्मृत्यादि ग्रन्थ तथा परम प्रमाण स्वाऽनुभव के द्वारा यह जान लिया है अर्थात् निश्चित कर दिया है कि आत्मस्वरूपाऽतिरिक्त वस्तु की शङ्का ही नहीं हो सकती, तो पुन: उसका होना या न होना इसका सम्भव ही नहीं। जिसका होना या न होना प्रतीत होता है एवं जिस की चर्चा की जाती है, वह वस्तु भास–मात्र ही क्यों न हो फिर भी वह आत्मवस्तु ही है। इस कारण मल भी आत्म–स्वरूप ही है। परन्तु जैसा घड़ा या शराव वस्तुत: मिट्टी होने पर भी अपने व्यावहारिक आनन्द के लिये उसको मिट्टी न कह कर घड़ा, शराव आदि आदि नामों से या रूपों से ही बोध करते हैं, एवं कराते भी हैं। तात्पर्य यह कि व्यवहार में सद्–वस्तु को अर्थात् अप्रकटभाव या कारण रूप का कहिये, छिपाना ही पड़ता है। असत् वस्तुओं से ही अर्थात् प्रकट भाव से ही या कार्यरूप से ही कहिये, काम लिया जाता है। इसका कारण एक यह भी है कि यदि व्यवहार में भी वस्तु–सत्ता को प्रकट कर दिया जाए तो व्यवहार ही मिट जाएगा। जैसे कुण्डलों को संदूक में रख कर कोई बेचने वाला ग्राहक को यदि यह न कहेगा कि मेरे पास कुण्डल हैं तो कुण्डलाऽऽकार सोने को खरीदने वाले क्या समझेंगे या क्योंकर खरीदेंगे? फिर उस बेचने वाले के हाथ पैसे भी क्योंकर लगेंगे? क्योंकि विक्रेता ने तो ग्राहक के पूछने पर भी यह कहना कि मेरे पास सोना है, कुण्डल तो कहना ही नहीं, पर ग्राहक को तो कुण्डल चाहिये, अत: ऐसी स्थिति में जगत्–व्यवहार चलता नहीं। अस्तु। तात्पर्य यह कि व्यवहार सम्पूर्ण अनेकता पर निर्भर है। तथा इस अनेकता का मूल–कारण मल है। तथा वह मूल कारण भी व्यवहार से पृथक् नहीं एवं आत्मस्वरूप से भी पृथक् नहीं, ऐसा होने पर भी अपने आप आत्मदेव ने जब एक नई कल्पना मल–रूप से की, तब उसी कल्पित मालिन्य से मलिन होता है, तथा जैसे सोने की आत्मभूत शक्ति कुण्डल का रूप धारण कर लेने पर ग्राहक की दृष्टि में या

अत्यन्ताऽभाव होने से अर्थात् अनुभवी पुरुषों ने सम्पूर्ण श्रुति–स्मृत्यादि ग्रन्थ तथा परम प्रमाण स्वाऽनुभव के द्वारा यह जान लिया है अर्थात् निश्चित कर दिया है कि आत्मस्वरूपाऽतिरिक्त वस्तु की शङ्का ही नहीं हो सकती, तो पुन: उसका होना या न होना इसका सम्भव ही नहीं। जिसका होना या न होना प्रतीत होता है एवं जिस की चर्चा की जाती है, वह वस्तु भास–मात्र ही क्यों न हो फिर भी वह आत्मवस्तु ही है। इस कारण मल भी आत्म–स्वरूप ही है। परन्तु जैसा घड़ा या शराव वस्तुत: मिट्टी होने पर भी अपने व्यावहारिक आनन्द के लिये उसको मिट्टी न कह कर घड़ा, शराव आदि आदि नामों से या रूपों से ही बोध करते हैं, एवं कराते भी हैं। तात्पर्य यह कि व्यवहार में सद्–वस्तु को अर्थात् अप्रकटभाव या कारण रूप का कहिये, छिपाना ही पड़ता है। असत् वस्तुओं से ही अर्थात् प्रकट भाव से ही या कार्यरूप से ही कहिये, काम लिया जाता है। इसका कारण एक यह भी है कि यदि व्यवहार में भी वस्तु–सत्ता को प्रकट कर दिया जाए तो व्यवहार ही मिट जाएगा। जैसे कुण्डलों को संदूक में रख कर कोई बेचने वाला ग्राहक को यदि यह न कहेगा कि मेरे पास कुण्डल हैं तो कुण्डलाऽऽकार सोने को खरीदने वाले क्या समझेंगे या क्योंकर खरीदेंगे? फिर उस बेचने वाले के हाथ पैसे भी क्योंकर लगेंगे? क्योंकि विक्रेता ने तो ग्राहक के पूछने पर भी यह कहना कि मेरे पास सोना है, कुण्डल तो कहना ही नहीं, पर ग्राहक को तो कुण्डल चाहिये, अत: ऐसी स्थिति में जगत्–व्यवहार चलता नहीं। अस्तु। तात्पर्य यह कि व्यवहार सम्पूर्ण अनेकता पर निर्भर है। तथा इस अनेकता का मूल–कारण मल है। तथा वह मूल कारण भी व्यवहार से पृथक् नहीं एवं आत्मस्वरूप से भी पृथक् नहीं, ऐसा होने पर भी अपने आप आत्मदेव ने जब एक नई कल्पना मल–रूप से की, तब उसी कल्पित मालिन्य से मलिन होता है, तथा जैसे सोने की आत्मभूत शक्ति कुण्डल का रूप धारण कर लेने पर ग्राहक की दृष्टि में या

पहनने वालों की दृष्टि में वह कुण्डल दिखाई देती है, अथ च सोना उसको नहीं कहा जाता, तथाऽपि सुवर्णत्व उसका नष्ट नहीं होता। किन्तु उसका विशेष उपयोग नहीं किया जाता है। ऐसे ही जब आत्मस्वरूप मलिनता की कल्पना अपने आप पर कल्पित कर लेता है तब यह मलिन हो जाता है, अर्थात् व्यवहार में यह अन्तः शुद्ध होने पर भी मलिन माना जाता है। अत एव पुनः इस मलिन को ही जीव कहने की रीति सी हो जाती है। जीव के अर्थ यहां मनुष्य या चींटी नहीं है, किन्तु शिव से लेकर पृथिवी–पर्यन्त छत्तीसों तत्त्व एवं उनके अन्तर्भूत समस्त विकार समझना। अनन्तर ऐसे जीव–भाव को पाता हुआ यह प्रभु परमेश्वर उस स्थिति में भी मुक्त होने पर भी बद्ध के समान दिखाई देता है। अर्थात् अपने आपको बद्ध–रूप से दिखाता है तथा देखता भी स्वयं ही है, इस बात को नहीं भूलना चाहिये। अनन्तर स्वतः सिद्ध मुक्त भी यह बद्ध के समान होता हुआ संसारी बनता है। तात्पर्य यह कि जैसे मिट्टी घड़ा होने पर या शराव होने पर, अधिक क्या, जितने भी रूप मिट्टी के हो सकते हैं उतने समस्त रूपों को मिट्टी अपने आप पर दिखाती हुई भी कोई हानि नहीं उठाती तथा उस व्यावहारिक आनन्द को, जिसमें कि आपेक्षिक सुख, अथ च दुःख ये दोनों भी अन्तर्भूत हो जाते हैं, उठाती है। कारण, स्वयं परमानन्द स्वरूप है। बस ऐसे ही इस परमेश्वर की भी बात समझो कि स्वयमेव अपने ही आनन्द की छलकन से मलिनता अर्थात् बद्ध भाव या जीवभाव कहो, बात एक ही है या संसारी कह लो, हो जाता है। तात्पर्य कि यह स्वयं प्रभु है, अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र है। यह अपनी कल्पना से अपने आप में सब कुछ होता हुआ भी न होने के समान या कुछ भी न होता हुआ होते हुए के समान है ॥ २॥

इसी बात को अब थोड़ा विस्तृत रूप से समझाएंगे। सुनिये–

संसारित्वं प्रपन्नोऽयं मलानां तारतम्यतः।
शिवादिक्षितिपर्यन्तसोपानैरवरोहति ॥ ३॥

संसारिता को प्राप्त हुआ होता यह मलों के तारतम्य से शिव से लेकर पृथिवी–पर्यन्त सीढ़ियों से उतर आता है। तात्पर्य यह कि जब यह सर्वदा प्रकट रहने वाला भी अपने आपको संसारी–रूप से प्रसिद्ध जानता है या करता है अर्थात् संसारी–भाव की शरण हो जाता है, तब फिर इसको सारा काम–काज अर्थात् अनन्त–कोटि विश्व का व्यवहार करने के लिये नीचे से ऊपर तथा ऊपर से नीचे आना पड़ता है। यहां विचित्र बात तो यह है कि ऊपर से नीचे आने के लिये सीढ़ियाँ भी यह स्वयं ही बन जाता है। यह बात सम्यक् समझ में आने के लिये आपको हम एक उदाहरण देते हैं–समझिये कि एक मन्दिर सोने का बनाया जिसका ऊपर वाली शिखर की चोटी से लेकर उस मन्दिर की नींव तक सारा ही सोने का है। एवं उसमें ऊपर से नीचे आने के लिए सीढ़ियां भी सोने की ही हैं। सोने के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। अब सोने का ही पुतला यदि ऊपर से नीचे आए उतरते हुए तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि सोना ही अपने आत्म–स्वरूप सीढ़ियाँ से उतर रहा है, बस ऐसे ही यहां भी समझ लीजिये। गुरुशुश्रूषा से आत्मस्वरूप की वास्तवता को अनुभूत कर लेने से यह बात प्रकट हो जाएगी। पश्चात् यह ज्ञात हो जाएगा कि सम्पूर्ण तत्त्व अर्थात् पदार्थ जो कि एक–एक की अपेक्षया चेतन एवं जड़ हैं, वे परस्पर ऊंचनीच भाव से सीढ़ियों के समान समझे जाते हैं। वे सब परमेश्वर–स्वरूप ही हैं। उनसे उतरने वाला भी वही है। अब यह देखना है कि साधारण तौर पर समझने के लिये कैसे विभाग हो सकते हैं, अर्थात् इन सीढ़ियों को व्यवहार में क्या कहते हैं, अथ च ये सीढ़ियां कितनी हैं, तथा इनमें अन्तर क्या है? ठीक है, सुनिये–अन्तर इनमें यह है कि जिसमें

स्थूल मल अर्थात् मल की स्थूलता अधिक हो अर्थात् विकसित हो, वह निचली सीढ़ी तथा जिसमें मल का विकास न्यून हो अर्थात् वस्तुत्व की अर्थात् आत्मस्वरूप की सत्ता विशेष प्रकट हो वह ऊपर वाली सीढ़ी, यही मलों का तारतम्य है। तथा ये सीढ़ियां किसी ने सात, किसी ने सोलह, तो किसी ने पच्चीस, छब्बीस, एवं किसी ने इकत्तीस मानी है*। हमने सिद्धसम्प्रदायाऽनुसार छत्तीस मानी हैं। बात सारी एक ही है। इसमें न्यून या अधिक मानने से, या न मानने से कोई हानि नहीं। कारण, वस्तु–सत् एक ही है। अस्तु।

वे छत्तीस तत्व या सीढ़ियां अवरोह–क्रम से ये हैं, सुनिये–

१ शिव, २ शक्ति, ३ सदाशिव, ४ ईश्वर, ५ शुद्धविद्या, ६ माया, ७ काल, ८ कला, ९ नियति, १० राग, ११ विद्या, १२ पुरुष, १३ प्रकृति, १४ महत्, १५ अहङ्कार १६ बुद्धि, १७ शब्द तन्मात्र, १८ स्पर्श तन्मात्र, १९ रूप तन्मात्र, २० रस तन्मात्र, २१ गन्ध तन्मात्र, २२ श्रोत्र, २३ त्वक्, २४ चक्षु, २५ रसना, २६ घ्राण, २७ वाणी, २८ पाणि, २९ पाद, ३० पायु, ३१ उपस्थ, ३२ आकाश, ३३ वायु, ३४ तेज, ३५ जल, ३६ पृथिवी। इनमें आरोह क्रम से पृथिवी से माया पर्यन्त आत्मतत्व, शुद्ध विद्या से सदाशिव पर्यन्त विद्यातत्त्व, शक्ति तथा शिव ये दोनों मिल कर शिव–

** वैशेषिक शास्त्र में सात पदार्थ, न्यायशास्त्र में सोलह पदार्थ, सांख्यशास्त्र में पच्चीस तत्व, योगशास्त्र में छब्बीस तत्त्व, वेदान्तशास्त्र में इक्कीस तत्त्व और शैव शास्त्र में छत्तीस तत्त्व माने गए हैं।*

तत्त्व,* तथा समरस सम्पूर्ण तुरीय तत्व कहलाता है। इस विषय में अधिक नहीं कहा जाएगा। कारण, सिद्धसम्प्रदाय का रहस्य गुरुमुख से ही जानना चाहिये। इस प्रकार ये छत्तीस तत्त्व ही छत्तीस सीढ़ियां है। इन सभों में समरस रहने वाली आत्म–विलास–स्वरूप पूर्ण–स्वातन्त्र्य–शक्ति, जिसमें कि ये सारे तत्त्व कल्पित होते हैं, वह स्वयं सैंतीसवां कहो या न कहो पर समरस, मुक्त होने पर भी इन कल्पनाओं से बद्ध होने से अपने आप ही उतर आता है। उतरने पर भी इसका अपना लाभ ही होता है, हानि नहीं। अस्तु।। ३।।

यहां यह शङ्का होती है कि जब हम देखते हैं कि संसारी सुख भी तथा दु:ख भी दोनों को ही भोगते हैं, अत एव वे कभी सुखी तो कभी दु:खी होते हैं। साथ साथ एक यह भी बात है कि जैसे कोई पुरुष स्वयं अकेला होते हुए भी तथा स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी ही इच्छा से विवाह आदि करके पुत्रादि प्रपोत्र पर्यन्त, यदि कोई बहुत दीर्घ–आयु हो तो उनके भी लड़कों तक अपना परिवार स्वयं ही उत्पन्न करके तथा धनादि सङ्ग्रह करता हुआ पूरा संसारी बनकर फिर फंस जाता है, अनन्तर उसमें से

** माया तक के सभी तत्त्व जीव के साधन बनकर उसे घेरे रखते हैं। अत: इन्हें आत्मतत्व कहते हैं। शुद्ध विद्या से लेकर सदाशिव तक भेदाभेदमयी दृष्टि सर्वत्र बनी रहती है। उस भेद के भीतर भी रहने वाली अभेदमयी दृष्टि को विद्या कहते हैं। अत: इन तत्त्वों के इस वर्ग को ही विद्या तत्त्व कहा जाता है। ऊपर के दो तत्त्वों में सर्वथा अभेद ही प्रकाशित होता है, अत: उन्हें शिव तत्त्व कहा जाता है। इन तीनों तत्त्व–वर्गों के उदय और लय जिसके भीतर होते रहते हैं वह समस्त तत्त्वों का सामरस्य रूपी समान आधार या समान स्वरूप तुरीय तत्त्व कहलाता है। उसी को परमशिव, परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा, पूर्ण भगवान् आदि नामों से कहा जाता है।*

छूटता हुआ दिखाई नहीं देता, यदि यह भी मान लिया जाए कि किसी जन्मान्तर में छूट ही जाता है तो भी इस बात को तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि वह परतन्त्र है, परन्तु इस प्रकार से यह प्रभु सम्पूर्ण तत्त्वों के रूप से या तत्त्वरूपी सीढ़ियों से उतर आकर भी फंसता नहीं। सुनिये—

स्वविलासेनाऽवरूढ आरूरूक्षुः स्वयेच्छया।
आरोहते सदाऽऽनन्दो नैर्मल्योल्लासपण्डितः ।। ४।।

अपने विलास से उतरा हुआ, अपनी इच्छा से चढ़ने की इच्छा करने वाला सर्वदा आनन्द—स्वरूप निर्मलता को उल्लासित करने में अथवा निर्मलता के प्रकाश से जो बहुत चतुर है, वह ऊपर भी चढ़ जाता है, तात्पर्य यह कि जीव—भूत यह प्रभु सर्वदा आनन्द—स्वरूप होने के कारण जीव—भाव भी आनंद के लिये ही लेता है, यह बात सिद्ध ही है। जीव—भाव में आने के लिये अर्थात् ऊपर से नीचे उतरने में यह स्वतन्त्र ही है, कारण, इसका स्वरूप ही विलास है, तब आनन्दी पुरुष के समान कभी ऊपर तो कभी नीचे, जैसा चाहे वैसा तथा जब चाहे तब यह आनन्द करता है, इसमें रूकावट करने वाला दूसरा कोई भी आज पर्यन्त न उत्पन्न हुआ न होने की आशा है न इस समय है, अतः यह किसी साधारण या किसी चक्रवर्ती राजा के समान भी परतन्त्र नहीं। अतः चढ़ने में भी यह पूर्ण—स्वतन्त्र है, अत एव अपनी ही इच्छा से यह ऊपर भी चढ़ जाता है, इसमें आश्चर्य ही क्या। कारण, निर्मलता के प्रकाशित करने में यह बड़ा ही चतुर है, तात्पर्य यह, जो जो इसका स्वरूप निर्मल है वह वह ऊपरली श्रेणी का तथा जो—जो समल है वह वह निचली श्रेणी का तथा निर्मलता के प्रकाश से यह पण्डित कहलाता है। तात्पर्य यह कि यह सम्पूर्ण व्यवहार

जो कि आपेक्षिक समल निर्मल भावों से भरा हुआ है, उन सबों में एक अनुस्यूत चतुराई बस इसी की है, यह समझ लीजिये। अतएव दुःख का नाम मात्र भी नहीं है। समझाने के तौर पर हमने यह गृहस्थ का उदाहरण दिया है, परन्तु वह गृहस्थ भी एक उस प्रभु का ही अंश है अर्थात् कल्पना मात्र है, तात्पर्य यह कि परमात्मा के सिवा अन्य कोई वस्तु नहीं है, इस बात को कभी भी न भूलना चाहिये। नहीं तो कुण्डल का मूल्य मांगने वाले कुण्डल विक्रेता पुरुष के समान सुवर्ण मात्र का मूल्य मिलने पर भी कुण्डल का मूल्य न मिलने से दुःखी होना पड़ेगा।। ४।।

इसी बात को व्यावहारिक उदाहरणों से समझाते हैं।

सुनिये–

कृत्रिमान्मलिनीभावाज्जातु किं मलिनीकृतम्।
नैसर्गिकं सुनैर्मल्यं स्वीयं स्वात्मा समुज्झति ।। ५।।

बनावटी मलिनता से मलिन होता हुआ स्वाभाविक शुद्ध निर्मलता को अपने आप यह आत्मस्वरूप क्या कभी भी छोड़ता है? नहीं। कारण, यह उसका अपना ही जो ठहरा, अपने को अर्थात् अपने आपको कोई कभी कहीं भी खो सकता है? अर्थात् नहीं। तात्पर्य यह कि यह व्यवहार अर्थात् मालिन्य थोड़े समय के लिये आत्म–स्वरूप को मलिन के समान तो अवश्य करता है परन्तु ऐसा होने पर भी आत्म–स्वरूप अपने स्वाभाविक पूर्ण निर्मलता को नहीं छोड़ता, कारण, वह दूसरी वस्तु नहीं है कि जो छोड़ी जाए या ली जाए। वह कल्पित भी नहीं है कि उसको मिटा दिया जाए ।। ५।।

जैसे कि देखिये–

**यथाऽऽकाशो नीलनीलैर्मेघैर्नीलीकृतोऽपि सन्।
मेघाऽपाये पुनः स्वच्छस्तद्वदात्माऽपि निर्मलः ॥ ६॥**

जैसे आकाश नीले नीले मेघों से नीला देखा जाता है, परन्तु पीछे मेघों के हट जाने पर अत्यन्त शोभित स्वच्छ हो जाता है। एवमेव आत्मा भी निर्मल है। तात्पर्य यह कि मेघों के कालेपन से आकाश को भी थोड़ी देर कालापन आ जाता है। परन्तु आकाश वस्तुतः देखा जाए तो उस समय भी काला नहीं था, पीछे तो अर्थात् मेघों के हट जाने पर आकाश को स्वच्छ कहने लगे। वास्तव में यह इसकी स्वच्छता जो कि पहले से ही वर्तमान है वही प्रकट सी हुई। वस्तुतः स्वच्छता तो सर्वदा ही प्रकट हुआ करती है। आत्मा भी जब कल्पित मलिनता से ढका हुआ सा जान पड़ता है तब उसको शिव शक्ति आदि व्यवहार से समझा, सुना, या कहा जाता है, अन्यथा पूर्ण निर्मल वह न कुछ समझ में आता है अर्थात् वह ज्ञान का विषय नहीं होता तथा शब्द का विषय भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में सुनने में या कहने में आना कैसे हो सकता है? ऐसे को भी यदि कहना ही है, 'निर्मल' ऐसा शास्त्रों में कहा है।। ६।।

उक्त उदाहरण में आकाश पर मेघ आने पर आकाश का बोध नहीं होता, कारण आकाश निर्मल होने पर भी अर्थात् उस समय भी आकाश की खोज करने पर भी यह नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि आकाश प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष–प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। किन्तु अनुमान से आकाश है ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु आत्म–स्वरूप सम्पूर्ण प्रमाणों से अगम्य होने पर भी सम्पूर्ण प्रमाणों से गम्य भी होता है। इस बात को दिखाने के लिये हम दूसरा दृष्टान्त देते हैं। सुनिये–

जपाकुसुमसान्निद्ध्यमात्रतो लोहितीकृतः।
सहजां स्वच्छतां जातु नोज्झति स्फटिकोपलः ॥ ७॥

उढौर के फूल के समीप होने भर से ही लाल होता हुआ स्फटिक–मणि अपनी स्वाभाविक निर्मलता को कभी भी नहीं छोड़ता। तात्पर्य यह कि उढौर का फूल लाल रङ्ग का होता है, स्फटिक नाम का मणि अत्यन्त श्वेत अर्थात् निर्मल होता है। इसी कारण उढौर का फूल स्फटिक के केवल समीप ही रख देने से स्फटिक लाल हो जाता है। यद्यपि स्फटिक के साथ पुष्प का कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है फिर भी स्फटिक पूरे लाल रङ्ग का ही दिखाई देता है। किन्तु वैसा दिखाई देने पर भी अपनी स्वाभाविक निर्मलता को वह कभी भी नहीं छोड़ता। इस बात को प्रत्यक्ष ही अनुभव करके देख सकते हैं। कारण, स्फटिक मणि का अपना रङ्ग विशेष कोई भी नहीं है। केवल अत्यन्त शुद्ध अर्थात् निर्मल वर्ण है। जपा कुसुम तो उपलक्षण मात्र है। तात्पर्य यह कि निर्मल वस्तु के सम्मुख किसी भी रंग की दूसरी वस्तु आए, उस समय वह उसी रंग की दिखाई देगी, जिस समय वह दूसरी वस्तु हटा दी जाए, तब पुनरपि वह ज्यौं की त्यौं ही रहती है। तात्पर्य यह कि आत्म–स्वरूप अत्यन्त निर्मल है। तथा वह पूर्ण चिद्रूप होने से तथा पूर्ण स्वतन्त्र होने से सम्पूर्ण कल्पनाओं का एक मात्र समरस अधिष्ठान है। अत एव नाना प्रकार की कल्पित मलिनताओं से अपने आपको मलिन करता हुआ, देखता हुआ या समझता हुआ ही समझो, सर्वदा स्वभाव–भूत निर्मलता को कभी भी नहीं छोड़ता॥ ७॥

उक्त उदाहरण में जपा कुसुम तथा स्फटिक मणि, दोनों संयुक्त नहीं होते। इस कारण मणि के लाल होने पर भी हम यह कह सकते हैं कि उसको लाली का अर्थात् लाल पुष्प का स्पर्श ही

नहीं होता। अतः मणि यदि निर्मल ही रहे तो क्या आश्चर्य है? परन्तु आत्म–स्वरूप का तथा कल्पनाओं का यदि कार्य–कारण–भाव सम्बन्ध है वह तो मानना ही पड़ता है। तब कारण–रूप जो आत्म–स्वरूप उससे कार्य–रूप जो कल्पना है अर्थात् कल्पित मल, उसके साथ स्पर्श तो होना ही है तो क्या वहां भी वह अस्पृष्ट ही रहता है? जपा–पुष्प तथा स्फटिक के समान ये दोनों पदार्थ अर्थात् आत्म–स्वरूप तथा कल्पित मल, इनका पार्थक्य हो नहीं सकता, अतः मलों के साथ सम्बन्ध होने पर आत्म–स्वरूप निर्मल नहीं रह सकता। इस प्रकार वादी की शङ्का का उत्तर भी सुनिये–

यैरेव किरणैः सूर्यो गाङ्गमम्बु स्पृशत्यहो।
विष्ठामपि स्पृशंस्तैस्तु स्वप्रायत्यं जहाति किम् ॥ ८॥

जिन ही किरणों से सूर्य गङ्गा के जल को छूता है, उन्हीं किरणों से विष्ठा को भी छूता हुआ सूर्य अपनी पवित्रता को क्या छोड़ता है? कैसा आश्चर्य है!! तात्पर्य यह कि सूर्य तथा उनके किरण, इनका तो संयोग–सम्बन्ध नहीं, किन्तु इसको समवाय–सम्बन्ध मानना पड़ेगा। कारण किरण गुण हैं, जो कि कार्य हैं, तथा सूर्य द्रव्य है, जो कि कारण है। ऐसा होने पर भी जिन ही किरणों से सूर्य गंङ्गा जल जैसे अत्यन्त निर्मल वस्तु का स्पर्श करता है उन ही किरणों से विष्ठा जैसी अत्यन्त अपवित्र वस्तु का भी स्पर्श करता हुआ अपनी स्वाभाविक पवित्रता को क्या छोड़ देता है? अर्थात् कभी नहीं छोड़ता। कैसा आश्चर्य है!! कि अपवित्र वस्तु को स्पर्श करता हुआ भी सूर्य अपवित्र नहीं होता। तात्पर्य यह, सूर्य के साथ विष्ठा या गङ्गा जल दोनों किरणों के द्वारा स्पृष्ट होने पर भी सूर्य निर्मल ही रहता है। इसी प्रकार आत्म–स्वरूप अपनी ही किरण रूपी कल्पित मलों को स्पर्श करता

हुआ भी कभी भी अपवित्र अर्थात् समल नहीं होता। कारण आत्मस्वरूप अत्यन्त निर्मल है।। ८।।

परन्तु यह भी उदाहरण ठीक नहीं। ऐसा यदि कोई कहे कारण यह उसमें, कि सूर्य के साथ तो गङ्गा जल या विष्ठा का, स्पर्श हुआ ही नहीं, कारण उन पवित्र या अपवित्र वस्तुओं से स्पर्श तो किरणों से हुआ, परन्तु इसमें सूर्य यदि पवित्र ही बना रहा तो क्या आश्चर्य है? इसलिये कोई दूसरा दृष्टान्त देना चाहिये, यह सोचकर एक दूसरा दृष्टान्त पुनः दिया जाता है। सुनिये–

पवित्रमपवित्रं वा ज्वलनः सर्वमप्यदन्।
सर्गपूतः पावकाख्यां वहन् लोके विराजते ।। ९।।

पवित्र हो या अपवित्र, अग्नि सभी कुछ खाता हुआ स्वभाव से पवित्र होने से 'पावक' इस नाम को धारण करता हुआ जगत् में विराजता है। तात्पर्य यह कि अग्नि जिस प्रकार घृत जैसे पवित्रतम वस्तु को तथा विष्ठा जैसे अपवित्र वस्तु को, तात्पर्य कि सभी कुछ खाता हुआ यह नहीं सोचता कि पवित्र वस्तु ही मैं खाऊं तथा अपवित्र को न खाऊं, फिर भी वह स्वभाव से ही पवित्र है। ऐसा सारे शास्त्रों में कहा है। अधिक क्या विद्वानों ने, नहीं नहीं, विद्वानों की कसौटी, 'श्रुति' तथा 'स्मृति' ने भी अग्नि को पावक अर्थात् पवित्र करने वाला ऐसा नाम दिया है। इस पावक नाम को धारण करता हुआ यह अग्निदेव चौदहों लोकों में अर्थात् करोड़ों ब्रह्माण्डों में प्रकाशित होता है, बस आत्मस्वरूप इसी भांति निर्मल है। अग्नि में पड़ी हुई कोई भी वस्तु, चाहे फिर वह कितने ही ऊपरले सिरे की पवित्र हो, अथवा परले सिरे की अपवित्र हो, वह वस्तु अग्नि–स्वरूप हो जाती है, अर्थात् वह भी पावक हो जाती है। इसी प्रकार यह अग्नि की भी अग्नि जो

आत्म–स्वरूप है, इस आत्म–स्वरूप में कोई भी कल्पना हो, चाहे वह फिर किसी श्रेणी की मल–स्वरूपिणी हो, उस कल्पित के आत्मस्वरूप होते ही अत्यन्त निर्मल हो जाती है। तब फिर आत्म–स्वरूप निर्मलता को कैसे छोड़ सकता है? अर्थात् वह सर्वदा ही निर्मल रहता है। इस उदाहरण में यह भली प्रकार दिखलाया है, कि पूर्ण–निर्मल–वस्तु के साथ किसी प्रकार के भी मल का स्पर्श होने पर भी कोई मलिनता नहीं होती।। ९ ।।

उक्त उदाहरण में यह शङ्का नहीं होती कि आत्म–स्वरूप का तथा मलों का परस्पर कोई सम्बन्ध ही न था। हां, यह बात अन्य है कि आत्म दृष्टि में मल भी आत्म–स्वरूप ही हैं। जहां दो वस्तु ही नहीं वहां सम्बन्ध कैसा? यहां तो केवल यह दिखलाया गया है कि कल्पित मलों के साथ सम्बन्ध थोड़ी देर मान लेने पर भी आत्म–स्वरूप की निर्मलता नष्ट नहीं होती, बस इतना ही। इस बात को दूसरे उदाहरण में भी दिखा देते हैं, वह भी सुन लीजिये–

सुगन्धं दुष्टगन्धं वा मारूतः सर्वतो दिशम्।
नयन्नपि स्वयं स्वीयं पावित्र्यं विजहाति किम्।।१०।।

अच्छी गन्ध को तथा दुष्ट गन्ध को सब दिशाओं में ले जाता हुआ यह वायु स्वयं अपनी स्वाभाविक पवित्रता को क्या छोड़ देता है? तात्पर्य यह कि वायु चारों ओर बुरी तथा भली अर्थात दुर्गन्ध तथा सुगन्ध को ले जाता है? पर फिर भी अपनी स्वाभाविक पवित्रता को कभी नहीं छोड़ता, अत एव वायु को पवन कहते हैं। एवमेव सारे व्यवहार आत्म–स्वरूप ही करता है। तथा छत्तीस कोटि मल इस आत्म–स्वरूप के उदर में भरे पड़े हैं, तथाऽपि यह सभी के साथ पवित्र ही अर्थात् अत्यन्त निर्मल ही

रहता है। इसमें तो मलिनता की शङ्का लेश–मात्र नहीं होती। एवच यहां तक के उदाहरणों से इस बात को भली भांति समझा दिया कि आत्मस्वरूप पूर्ण निर्मल है। तथा यह बात भी इससे अनायास ही ठीक हो जाती है कि सम्पूर्ण मल अर्थात् छत्तीसों मल या तत्त्व ये आत्म–दृष्टि से निर्मल तथा अनात्म–दृष्टि से मल हैं* ।। १० ।।

अब यहां एक अन्य शङ्का होती है कि जीव पूर्ण निर्मल कैसे हो सकता हे? तात्पर्य, नाना प्रकार के शास्त्रों में नाना उपाय बतलाए हैं। उनमें कौन सा उपाय ठीक हैं? सुनिये इसका भी उत्तर सुनिये–

कर्माऽनुष्ठानतो नैव नैर्मल्यं पूर्णमाप्यते।
स्वात्मस्वरूपविज्ञाननिश्चयात्तत्तु लभ्यते ।। ११ ।।

कर्मों के अनुष्ठान से पूर्ण निर्मलता** कभी भी नहीं पाई जाती, किन्तु अपने आपके स्वरूप के अनुभव की दृढ़ता से ही वह पूर्ण निर्मलता मिल जाती है। तात्पर्य यह कि पूर्ण निर्मलता कर्मों के करने से नहीं मिलती, कर्म कैसा भी हो, विहित हो या अप्रतिषिद्ध, नित्य हो, नैमित्तिक हो, ऐसे ही वह श्रोत हो, स्मार्त्त

** छत्तीस तत्त्वों को अपने आप से भिन्न रूप में प्रमेयतया देखना मल होता है। इन्हें आत्मरूपता से देखना ही नैर्मल्य है। आत्मदृष्टि ही निर्मलता है और भेद दृष्टि मल है।*

*** शुभ कर्मों के अनुष्ठान से कुछ कुछ निर्मलता प्राप्त होती है, परन्तु फिर भी बहुत सा मल शेष रहता है। कर्मों की वासना और कर्मों का अभिमान स्वयं मल ही है।*

हो या रागप्राप्त* हो, कैसा भी हो उससे पूर्ण निर्मलता नहीं आ सकती। ऐसे ही यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि निष्काम भी कर्म, कर्म–बुद्धि से किया हुआ यदि हो तो वह भी पूर्ण निर्मलता को नहीं दिला सकता। इसी प्रकार निषिद्ध कर्म चाहे वह कैसा भी निषिद्ध हो तथा किसी प्रमाण से निषिद्ध हो, पूर्ण निर्मलता को वह खण्डित नहीं कर सकता। पूर्ण निर्मलता तो अपने आप आत्म–स्वरूप के अनुभव की दृढ़ता से ही मिल जाती है**। अर्थात् एक ही उपाय है वह यह कि आत्म–स्वरूप का वास्तविकता का अनुभव करना। हां इससे यह न समझना चाहिये कि कर्म–काण्ड वृथा है। कर्म–काण्ड का एक एक अक्षर भी ठीक है। किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं कि पूर्ण निर्मलता को कर्म प्राप्त कराते हैं, वे तो काल्पनिक निर्मलता को ही दिया करते हैं। इसी प्रकार कर्म–काण्ड के निषिद्ध कर्म भी पूर्ण निर्मल को अशुद्व नहीं बना सकते। किन्तु अशुद्ध को ही कुछ अधिक अशुद्ध बना देते हैं। वस्तुत: अशुद्ध को अधिक अशुद्ध बनाना या काल्पनिक अशुद्ध को काल्पनिक शुद्ध बनाना, ये बातें भी कल्पित ही हैं। तात्पर्य यह कि पूर्ण ज्ञानी के लिये सभी एक–रस होने के कारण सम्पूर्ण व्यवहार, व्यवहारी पुरुषों की दृष्टि से कुछ भिन्न सा भी दिखाई पड़े,

---

** सन्ध्या वन्दना आदि नित्यकर्म होते हैं, अशौच आदि के अनन्तर शुद्धि आदि के कर्म नैमित्तिक होते हैं। स्वर्ग आदि की कामना से किए जाने वाले दर्श, पौर्णमास आदि कर्म काम्य होते हैं, खाना–पीना आदि भोग साधन रूपी कर्म राग प्राप्त कर्म कहलाते हैं।*

*** अपना आप देह, प्राण, चित्त आदि से उत्तीर्ण शुद्ध चैतन्य स्वरूप तथा असीम परिपूर्ण और परम–ऐश्वर्यवान् साक्षात् अनुभव में आए तो उसे आत्मस्वरूप का अनुभव कहते हैं।*

तो भी उसको अपनी कोई हानि नहीं*। इसीलिये वह परिपूर्ण ज्ञानी पूर्ण निर्मल होता है। तथा वह पूर्ण नैर्मल्य निषिद्ध कर्मों के छोड़ने से या विहित कर्म करने से नहीं प्राप्त होता, किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप के अनुभव की पूर्ण दृढ़ता से ही प्रत्यभिज्ञात होता है**। यह समझ लेना चाहिये।। ११ ।।

उक्त बात ठीक भी है। इसके लिये हम कुछ युक्ति तथा सिद्धान्त पुनः कहेंगे, सुनिये–

पवित्रमपवित्रं वा वस्तु कल्पितमेव यत्।
पावित्र्यं भजते सद्यः स्वात्मवह्नौ विलापनात् ।।१२।।

पवित्र या अपवित्र वस्तु जो कि कल्पित ही तो है वह आत्मरूपी अग्नि में गला देने में तत्–काल पवित्र हो जाती है। तात्पर्य यह है कि आपेक्षिक पवित्रता अर्थात् निर्मलता तथा अपवित्रता अर्थात् मलिनता, ये दोनों जो कि कल्पित ही हैं, तात्पर्य यह कि इस जगत् में अर्थात् जाग्रत्–जगत् से लेकर सौषुप्त–जगत् पर्यन्त कोई भी परस्पराऽवलम्बी भाव हो वह कल्पित वस्तु ही है।

** तात्पर्य यह कि यदि ज्ञानी पुरूष अन्य लोगों की तरह लोक मर्यादा का पालन कभी नहीं भी करे तो उससे उसमें समलता नहीं आती है। वह कुछ भी करता हुआ सदा निर्मल ही बना रहता है।*

*** परिपूर्ण परमेश्वर ने अपनी परमेश्वरता को, अपनी पूर्ण निर्मलता को, अपने ही विलास की लीला से जब भुला डाला, तब वह जीव के रूप में समल बन कर प्रकट हुआ। यह उसकी इस पारमेश्वरी लीला का पूर्वाङ्ग है। इसी लीला के उत्तराङ्ग में वह गुरु की कृपा से शास्त्र के उपदेश को प्राप्त करके उसके अभ्यास के द्वारा जब समस्त मल को गला देता है तो अपने भुला दिए हुए वास्तविक स्वरूप को पुनः पहचान लेता है। इस पहचाने जाने को ही प्रत्यभिज्ञात होना कहते हैं।*

इस बात को हम कई बार कह चुके हैं। वह कल्पित पवित्र तथा अपवित्र वस्तु अपने आत्मस्वरूप अग्नि में गला देने* से वह अर्थात् वह वस्तु, तत्क्षण पूर्ण पवित्र हो जाती है। तात्पर्य यह कि जैसे अग्नि में डालने पर कोई भी अर्थात् अपवित्र वस्तु भी उस वस्तु का पार्थक्य अर्थात् अलगाव नष्ट हो जाने पर अर्थात् कल्पितता समूल गल जाने पर, तत्काल वह वस्तु पूर्ण निर्मल हो जाती है। तात्पर्य यह है कि स्थूल सूक्ष्म कारण सम्पूर्ण विश्वों का तथा उनके जनक स्थूल सूक्ष्म कारण कर्मों का आत्म–रूप अग्नि में होम कर देने पर अर्थात् उन सभों को आत्म–स्वरूप में लीन करने के पश्चात् परिपूर्णता ही परिपूर्णता रहती है।। १२।।

लीजिये हम एक अन्य दृष्टान्त देते हैं। सुनिये–

निर्मलं समलं वाऽपि हेम वह्नौ विलापितम्।
पृथक्तया ज्ञायते किं निर्मलं समलं पुनः।। १३।।

निर्मल हो या समल, सोना अग्नि में जो गला दिया जाता है, क्या फिर वह निर्मल या समल पृथक्–रूप से ज्ञात होता है? अर्थात् नहीं। तात्पर्य यह कि कोई अच्छा सोना अग्नि में डाल दिया जाए तथा भली भांति गला दिया जाए तो उसकी कोई हानि नहीं होती, वह निर्मल का निर्मल ही रहता है। ऐसे ही जो मलिन सोना है उसको अग्नि में डाल कर भली प्रकार गला दिया

** पवित्र या अपवित्र वस्तु को भावना के दृढ़तर अभ्यास से अपना आप ही समझ लेना, उसको अपने आप में विलीन करना होता है। उससे प्रत्येक वस्तु आत्मरूप बनती हुई नैर्मल्य को प्राप्त करती है और वह अभ्यासी महानुभाव भी इस प्रकार के भावना के अभ्यास से स्वयमपि नैर्मल्य को प्राप्त करता है।*

जाए तो वह भी पूर्ण निर्मल हो जाता है। अनन्तर वह निर्मल सोने से पृथक् नहीं ज्ञात होता, कारण, अग्नि सम्पूर्ण मलों को धो डालती है। इसका एक तात्पर्य यह भी है कि पूर्ण ज्ञानी पुरुष यदि व्यवहारी पुरुषों की दृष्टि में आत्माऽनुसन्धान या अद्वैत–भक्ति भी करता हुआ दिखाई दे, तो भी वह वैसा का वैसा ही अर्थात् परिपूर्ण का परिपूर्ण रहता है। तात्पर्य यह कि पूर्णज्ञानी यदि लोक–सङ्ग्रह करता हुआ दिखाई दे भी तो फिर भी वे कर्म उसके बाधक नहीं होते, कारण, वे कर्म आत्मरूप हैं। पूर्ण–ज्ञानी को सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी उसको वह, यह मेरा कर्त्तव्य है तथा इसको करने से किसी दूसरे को सुख होगा आदि आदि जैसी कि अपूर्ण–ज्ञानी को हुआ करती हैं वैसी शङ्का तथा वासना नहीं होती, किन्तु उन सब को वह आत्म–विलास समझ कर उनको भी मिटा देता हुआ सा अपने आप में परिपूर्ण रहता है। इसी प्रकार दूसरे अर्थात् अपूर्ण–ज्ञानी के कर्म या अपूर्ण–ज्ञानी ही जब सम्पूर्ण कर्मों को अर्थात् कारण सूक्ष्म तथा स्थूल सब प्रकार के कर्मों को चाहे वे फिर विहित हों या निषिद्ध हों, नित्य हों, नैमित्तिक हों या काम्य अर्थात् सकाम हों या निष्काम हों तात्पर्य यह कि कर्मत्व–रूप से आत्माऽतिरिक्तता के समान कल्पित किये हुए किसी भी प्रकार के कर्म हों एवं तज्जन्य सम्पूर्ण विश्वों को अर्थात् सौषुप्त, स्वाप्न तथा जाग्रत्क विश्वों को अपने आत्म–स्वरूप में मिला देने पर* अर्थात् उनको परिपूर्ण रूप से एक कर देने पर

** पूर्ण ज्ञानी तो निर्मल होता ही है, परन्तु अपूर्ण ज्ञानी भी जब समस्त विश्व को अपना आप ही समझता हुआ उसे अपने साथ एक करके मानो उसे अपने भीतर विलीन कर देता है, तो इस उपाय से वह भी निर्मल हो जाता है। अपवित्र वस्तु भी जब जलकर आग की ज्वाला में परिणत हो जाती है तो वह भी पावक बन जाती है।*

वह भी सबों के साथ पूर्ण ज्ञानी अर्थात् पूर्ण निर्मल हो जाता है। पुनः उसमें तथा परिपूर्ण ज्ञानी में द्वैत की पृथक्ता की शङ्का भी नहीं होती। जैसे अत्यन्त शुद्ध नमक को देख कर फिर किसी मिट्टी से निकाले हुए अत्यन्त अशुद्ध नमक को समुद्र में डाल दिया जाए, अनन्तर उन दोनों का बहुत कष्ट से ढूँढने पर भी द्वैत–भाव नहीं मिलता। इसी प्रकार निर्मल तथा समल कोई भी वस्तु हो आत्मसात् अर्थात् आत्म–रूप होने पर सभी फिर पूर्ण निर्मल ही निर्मल रहती है।। १३।।

अब एक अन्य उदाहरण देकर भी हम कर्मों के विषय में समझायेंगे कि पूर्ण–ज्ञानी के कर्म कैसे होते हैं। तथा वह व्यवहार किस प्रकार करता है। चित्त एकाग्र कर सुनिये–

स्वविलासेन सर्वाणि कुर्वन्कर्माणि सर्वदा।
दीपवत्साक्षिमात्रोऽयं व्यवहाराय कल्पते।। १४।।

अपने विलास से सम्पूर्ण कर्मों को सर्वदा करते हुए दीपक के समान साक्षि–मात्र यह प्रभु व्यवहार के लिये समर्थ होता है अर्थात् व्यवहार का कारण बनता है। तात्पर्य यह कि दीपक अपने प्रकाश से अर्थात् दीपक से अभिन्न दीपक–प्रकाश से सारे कर्मों को करता हुआ भी न करने के समान तथा साक्षी बना रह कर सम्पूर्ण व्यवहार का साधन दीपक होता रहता है, तात्पर्य यह कि दीपक के प्रकाश में सीना, पिरोना, लिखना, पढ़ना, चोरी करना, खेल खेलना, आदि आदि परस्पर भिन्न एकसमयाऽवच्छेद से तथा एकाऽधिकरणऽवच्छद से व्यवहार होते हुए देखने में आते हैं। परन्तु ये सब कर्म क्या दीपक करता है? परन्तु दीपक को बुझा दिया जाए तो यह कर्म बन्द हो जाते हैं तो यह क्या दीपक नहीं करता? यदि दीपक करता है, ऐसा मानें तो भी नहीं बनता, कारण, उन कार्यों को करने वाले परस्पर–विरोधी तथा दीपक से

भी पृथक् दूसरे ही ज्ञात होते हैं। तथा यह भी देखने में आता है कि सम्पूर्ण कर्म दीपक के साक्षि–मात्र होने से हो तो रहे हैं। अर्थात् दीपक के देख–रेख में ये सम्पूर्ण काम होते हुए दिखाई देते हैं, अत एव व्यवहार का साधन दीपक होता है। इतना होने पर भी लोग काम करें या न करें, करें तो दीपक का लाभ नहीं तथा न करें तो उसकी हानि नहीं। कारण, वह तो अपने आप को ही देखना या दिखाना तथा अपने आप में रहना यही जो परिपूर्णता है उसी के इस स्वानन्द को लूटता है। तात्पर्य यह कि व्यवहार से मानों उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसा होकर सारा व्यवहार छोटी सी छोटी बात को लेकर बड़ी से बड़ी बात तक देखता रहता है। अर्थात् उन सबों का कारण है। बस इसी प्रकार यह सर्वत्र सर्वदा तथा सर्वत: परिपूर्ण प्रकाश–स्वरूप परिपूर्ण–स्वतन्त्र या महाविद्या–स्वरूप पूर्ण–निर्मल आत्मविलास से सब कुछ करता हुआ भी मानों नहीं करता है।। १४।।

अब कर्म बन्धन किसको करते हैं इस बात को तथा कर्माऽकर्म–विचार किन के लिये आवश्यक है इस विषय में कहकर पश्चात् उदाहरणों से समझाकर मालिन्य का लक्षण तथा पूर्ण–निर्मल–स्वरूप का सौपसंहार विवरण करेंगे। सुनिये–

न्याय्यं वा विपरीतं वा कर्म बन्धाय कल्पितम्।
अद्वैततत्त्वविज्ञाननिष्णातानां कथं भवेत्।। १५।।

न्याय्य एवं उससे विपरीत अर्थात् अन्याय्य कुछ भी हो, कर्म बन्धन के लिये ही होता है। कारण, यह कल्पित है। यह कल्पित कर्म अद्वैत–तत्त्व के अनुभव में भली प्रकार जिन्होंने अपने आपको नहलाया है, उनको बन्धन के लिये, कैसे होगा? तात्पर्य यह कि अच्छा हो या बुरा, किसी प्रकार का भी कर्म बन्धन–कारक ही होता है। कारण, वह कल्पित है जैसे लोहे की बेड़ी हो या

सोने की, बांधने के लिये दोनों एक सा ही काम देगी। इसी प्रकार चाहे बांस की सोटी से किसी को मारा जाये या ईख से, फिर भी मार खाना दोनों का ही बुरा है। इसी प्रकार कल्पित कर्म मात्र बन्धन के लिये ही ठहराए गये हैं। वे स्वर्ग प्राप्त कराने वाले हों या नरक प्राप्त कराने वाले, बांधने वाले तो दोनों ही हैं। परन्तु अद्वैत–तत्त्व में अर्थात् वस्तु–मात्र का अर्थात् कल्पिताऽकल्पित वस्तु मात्र का आत्मरूप से अनुभव में भली भांति जिन्होंने स्नान कर लिया है अर्थात् जो पूर्ण पवित्र अर्थात् निर्मल–रूप* हो चुके हैं, उनको किस तरह बांध सकेंगे? कारण यह कि पूर्ण निर्मल कभी भी बनावटी अपवित्रता को अर्थात् समलता को मान लेने पर भी अपवित्र या अशुद्ध नहीं हो सकते। किस कर्म की शक्ति है कि उनको अर्थात् पूर्ण–निर्मल–पुरुषों को, बांध सके? कारण, बांधने के लिये कोई सत्ता तो चाहिये**? पर कल्पित की तो कोई सत्ता ही नहीं। इस बात को कई बार हम समझा चुके हैं।। १५।।

लीजिये एक अन्य उदाहरण देकर समझाते हैं। सावधान हो कर सुनिये–

** जैसे सांसारिक व्यवहार में शुद्ध जल के भीतर स्नान करने से शरीर निर्मल हो जाता है, उसी तरह से अद्वैत तत्त्व की साक्षात् अनुभूति रूपी जल में जो निष्णात हों, अर्थात् जिन्होंने उसके भीतर ठीक तरह से स्नान कर लिया हो, उनके द्वारा किये जाते हुए कर्म उन्हें कैसे बांध सकेंगे। निर्मल को कार्ममल छू नहीं सकता।*

*** जिस वस्तु से किसी को बान्धा जा सके, उस वस्तु की कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता तो होनी चाहिए, तब उससे उसे बान्धा जा सकता है। आकाश के कमलों की माला से तो किसी को बान्धा नहीं जा सकता है। पूर्ण नैर्मल्य का सेवन करने वालों की दृष्टि से उनसे अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता ही नहीं होती है। तो उनके लिए कर्म की भी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं, अत: स्वयं असत् होते हुए कर्म उन्हें कैसे बान्ध सकें।*

पितामहः शिशुं पौत्रं रञ्जयन् लोहलो भवन्।
स्वानन्दं विन्दते कञ्चित् तद्वदात्माऽपि निर्मलः।। १६।।

पितामह अपने बच्चे पोते को खिलाता हुआ उस बच्चे के समान स्वयं भी तुतला बन कर अपने किसी अपूर्व आनन्द को पाता है। उसी प्रकार आत्मस्वरूप भी अत्यन्त निर्मल है। तात्पर्य यह कि दादा अपने तुतले पोते को जो कि 'र' की जगह 'ल' इस प्रकार बोलता है उस बच्चे को गोद में लेकर उसे प्रसन्न करने के लिये स्वयं भी तुतला अर्थात् वैसे ही 'र' की जगह 'ल' कहने वाले बच्चे के समान हो जाता है। ऐसा करने से उस बच्चे को तो अपूर्व आनन्द आता ही है किन्तु इस दादे को भी कोई अनिर्वचनीय आनन्द आता है। तभी तो यह ऐसा करता है तथा अपने आपको अति धन्य समझता है। परन्तु क्या वास्तव में वह तुतला है? क्या उसको शङ्का भी होती है कि मैं तुतला हूँ? नहीं। कारण, यहां शङ्का का कारण ही कुछ नहीं। शङ्का का कारण तो विरूद्ध ज्ञान है। यहां तो 'मैं तुतला हूँ, या स्पष्ट बोलने वाला हूँ' इस विरूद्ध ज्ञान का अभाव ही है। अर्थात् यह उत्पन्न ही नहीं हुआ। तात्पर्य यह कि अपने आपको प्रसन्न करने के लिये। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पहले दुःखी ही था किन्तु पूर्ण काम होने के कारण एवं पूर्ण स्वतन्त्र पूर्णाऽऽनन्द–स्वरूप होने से ऐसा करता हुआ भी उनकी आकाङ्क्षा नहीं रखता। इस प्रकार के कार्य में कोई कर्त्तव्य–बुद्धि भी नहीं रखता है। बस ठीक इसी प्रकार आत्मस्वरूप भी

पूर्ण निर्मल है। तात्पर्य यह कि यह सब कुछ कल्पनामय व्यवहार आत्मस्वरूप से अनात्मस्वरूप के समान चमका कर पुन: उसको आत्मस्वरूप के समान ही चमकाता है*। या यों कहिये कि स्वयं ही आपे से मानों बाहर होकर अनात्मरूप के समान चमकता है। तथा अपनी इच्छा के अनुसार आत्म–रूप की भांति चमकता है। बात एक ही है। कल्पित–भाव से चमके या अकल्पित–भाव से। इसी प्रकार इसका चमकना भी और चमकाना भी एक ही है। बस यही पूर्ण–निर्मल का स्वरूप है। पूर्ण–निर्मल का व्यवहार अर्थात् उसका कर्म करना इस प्रकार होता है।। १६।।

तो फिर क्या सम्पूर्ण श्रुति–स्मृतियां जो कि कर्म तथा उपासना को प्रतिपादित करती हैं तथा यदि ठीक देखा जाए तो सारे संसार के ग्रन्थों में विधि और निषेधों की ही अर्थात् कर्माऽकर्मों की ही पताका लहराती हुई दिखाई देती है। इने गिने कुछ ऐसे होंगे जो कि यह कहते हैं कि यह वृथा है। तथा मुख से इसको वृथा कहते हुए भी इन कर्माऽकर्मों के झगड़ों से अस्पृष्ट नहीं रह पाते तथा रहें भी कैसे? हां ठीक है, इस का उत्तर सावधान होकर सुनिये– बात यह है कि आप जो यह कहते हैं कि 'सारे संसार के ग्रन्थों में कर्माऽकर्म–विचार की पताका ही फहराती देखने में आती है तथा उसको व्यर्थ बतलाने वाले इने गिने हैं' तो इससे आपकी बात की पुष्टि नहीं हो सकती। कारण अनेकता ही कल्पित है। तथा अनेकता में भी अनन्तता है। इसलिये

** तात्पर्य यह है कि पारमेश्वरी लीला से प्रकट हुए इस व्यवहार में पहले आत्मा को अनात्मरूपता से प्रकट किया जाता है। तभी तो जीव आत्मा को शरीर आदि के रूप में ही समझते हैं। इसी लीला के उत्तर भाग में जीव गुरू के अनुग्रह से लाभ उठाकर आत्म अनुसन्धान आदि के अभ्यास से इस अनात्म रूप विश्व को अपने आपके ही रूप में देखने लग जाता है।*

उसमें कर्माऽकर्म–विचार ठीक ही है। अत एव संसार के सभी ग्रन्थों में कर्माऽकर्म पर ही विशेष लिखा हुआ रहेगा तथा रहना भी चाहिये। पहाड़ तलहटी में जितने चौड़े होते हैं उतने चोटी पर नहीं, तो क्या चोटी सराहनीय नहीं होती? प्रत्युत उसी को पाने का अर्थात् उसी पर जाने का उद्योग लोग करते हैं एवं उसी में अपने आपको धन्य मानते हैं। पर भला बतलाइये तो सही कि हिमालय की सबसे ऊंची चोटी पर कितने गये? क्या उस पर यदि कोई पहुंच जाए तो वह सबसे धन्य नहीं माना जाएगा? यदि नहीं तो उस पर जाने के लिये प्रयत्न क्यों किया जाता है? 'अ, आ, इ, ई' पढ़ने वाले बच्चे तथा उनके लिये खुली प्राथमिक पाठशालाएं संसार में सबसे अधिक नहीं है? तो क्या 'एम.ए.' में उत्तीर्ण या शास्त्रि–श्रेणी में उत्तीर्ण की सम्मति से उन बच्चों की सम्मति अधिक प्रमाण मानी जाती है? या वे बच्चे 'एम. ए.' श्रेणी में उत्तीर्ण होने के लिये या शास्त्री होने के लिये नहीं चाहते? इसी प्रकार ऐसा कहने वाले कि कर्माऽकर्म–विचार व्यर्थ है तथा उनसे कोई लाभ नहीं, इस प्रकार कहने वाले इने गिने हैं, इसका अर्थ क्या? अजी! वे तो एम.ए.या शास्त्रियों के समान या हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने वाले धन्य पुरूष के समान इने गिने ही रहेंगे, थे भी इने गिने ही, वर्त्तमान में भी इने गिने ही मिलेंगे तथा भविष्यत् में भी इने गिने ही होंगे। यह बात तो हमारे ही मत की पुष्टि करती है। वाह जी! वाह!! बलिहारी ऐसे आपके पाण्डित्य की। ऐसी नासमझी से समझदार से लोहा लेना आप ही को सजेगा। अस्तु। सुनिये–उन सर्वोच्च शिखर पर चढ़े महात्माओं का अनुभव कैसा है, इस बात को बता देते हैं, यद्यपि अनुभव कहने में पूर्ण–रूप से नहीं आ सकता इस बात को हमने दूसरे प्रकरण में कह दिया है, तो भी कुछ कुछ शाखाचन्द्र–न्याय से आपको समझा देते हैं, सुनिये–

कर्माऽकर्मविचारो हि मूढानां भेददर्शिनाम्।
कृते स्वरूपविज्ञानां पण्डितानां न जात्वपि।। १७।।

कर्म तथा अकर्म का विचार मूर्ख जो कि भेद दर्शी हैं उन लोगों के लिये ही निश्चित किया गया है। यह अपने आप के स्वरूप का अनुभव करने वाले पण्डितों के लिये कभी भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि भेद–दृष्टि अपनी भी हो तथा जो भेद ही दिखलाते हैं अर्थात् अद्वैत तत्त्व को न वह जानते हैं तथा न उन्हें अनुभव ही है, कारण, सिद्धान्त–ज्ञान अर्थात् शास्त्र–ज्ञान पहले सम्पादन किया जाता है, अनन्तर उसका अनुभव किया जाता है, अर्थात् विज्ञान किया जाता है। तो जिनको अद्वैत–ज्ञान ही नहीं उनको अद्वैत–विज्ञान कैसे होगा? अतः वे सर्वदा भेद ही भेद देखते हैं तथा दिखाते हैं, उनको मूर्ख कहते हैं। ऐसे लोगों के वास्ते ही यह कर्म तथा अकर्म अर्थात् स्थूल–कर्म–काण्ड तथा सूक्ष्म–कर्मकाण्ड अर्थात् उपासना–काण्ड या कर्म अर्थात् विहित कर्म जो कि श्रौत, स्मार्त्त, नित्य, नैमित्तिक, काम्य होता है, एवं अकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म, यह भी श्रौत, स्मार्त्त, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, अथवा कर्म अर्थात् कल्पित तथा अकर्म अर्थात् अकल्पित, इनका विचार अर्थात् कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य–ज्ञान या सिद्धान्त यह है अर्थात् ठहराया है। यह अपने आपके परिपूर्ण अनुभवी पण्डितों के लिये कदाऽपि नहीं हो सकता, अर्थात् उनके लिये यह कर्माऽकर्म–विचार साधक या बाधक नहीं होता। क्या शास्त्रि–परीक्षोत्तीर्ण अ, आ, इ, ई नहीं लिखता? या पहली श्रेणी की पुस्तकों को कभी उठा कर पढ़ नहीं लेता? पर इससे क्या उसकी शास्त्रित्व की हानि होती है? या शिशु–वर्ग में पढ़ने वाले बच्चों के समान शास्त्री के लिये भी यह नियम होता है कि वह प्रतिदिन 'अ, आ, इ, ई' से लेकर '' क्ष, क्षः'' पर्यन्त बाराखड़ियां लिखा ही करे? तथा उन पुस्तकों को पढ़ा ही करे। बस इसी प्रकार आत्मस्वरूप के अनुभवी

पण्डित के लिये यह कर्माऽकर्म–विचार का नियम नहीं लागू हो सकता चाहे वह उन ग्रन्थों के अनुसार कर्माऽकर्मों को उपयोग में लाए या उससे सर्वथा विपरीत ही चले। बस यही पण्डितों का लक्षण भी है कि सर्वत्र आत्म–दृष्टि से देखना तथा अपने आनन्द के लिये अद्वैत–तत्त्व का साक्षात्कार कराना। अत: ऐसे लोग करोड़ों में ही एक आध इने गिने यदि हुए तो आश्चर्य ही क्या? अजी! ऐसा न हो तो ही आश्चर्य है। जो वस्तु अलभ्य होती है उसी का मूल्य भी अधिक हुआ करता है। अत एव उसको पाने से धन्यता प्राप्त होती है। यहां एक बात और भी है, वह यह कि मूढ़ लोगों के लिये, जो भेद–दर्शी हैं अर्थात् स्वयं भेद–दृष्टि नहीं हैं, किन्तु भेद–दृष्टियों के समान अपने आपको जो दिखलाते हैं* उन वस्तुत: स्वरूपाऽनुभवी पण्डितों के लिये कर्माऽकर्म–विचार का अड़ङ्गा नहीं हुआ करता**। तात्पर्य यह कि शास्त्रीय कर्माऽकर्म–विचाराऽनुकूल चलने पर भी वे पण्डित हानि नहीं उठाते प्रत्युत सोलहवीं कारिका के कथनाऽनुसार आनन्द ही लूटते हैं।। १७।।

अच्छा जी! एक बार आपका पूर्ण नैर्मल्य क्या है? इसको

** भेदमयं व्यवहारं ये नटवद्दर्शयन्त्येव केवलम्, न तु परमार्थकतया मूढजनवत्तथाऽचरन्ति। भेदात्मकेन व्यवहारदर्शनेन च मूढा इव प्रतीयमाना अपि ये वस्तुत: स्वरूपविद्या एव, तेषामपि कृते नायं कर्माकर्म–विचार:।*

*** कोई स्वानुभवी महापुरुष विश्व को तो आत्मरूप से ही देखते रहते हैं परन्तु बाह्य व्यवहार साधारण आस्तिक जनों की तरह इस तरह से करते रहते हैं कि लोग उन्हें आत्मदर्शी न समझकर भेददर्शी ही समझते रहते हैं। इस तरह से अपने आप को भेददर्शी के रूप में दिखलाने वाले इन स्वरूप साक्षात्कारी महापुरुषों के लिए कोई भी कर्म अकर्म का विचार नहीं होता है। वे जो चाहें कर सकते हैं। फिर भी बन्धन में नहीं पड़ते।*

पुनः कहिये। कारण, हमें यहां यह शङ्का होती है कि जब शास्त्राऽनुकूल कर्माऽकर्म–विचार के अनुसार चलने से यदि आत्मविज्ञ पण्डितों की कोई हानि नहीं होती तो इसमें कौन सी बड़ी बात है? किन्तु उससे विरूद्ध अर्थात् कर्माऽकर्म–विचार–विरूद्ध चलने पर हानि नहीं होती इस बात को मानना युक्ति–युक्त प्रतीत नहीं होता है। भला समझदार मनुष्य अग्नि में यदि हाथ डाले तो क्या वह जलेगा नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है? अतः आपका यह पूर्ण नैर्मल्य कैसा है? वादी के इस प्रकार पूछने पर हमारा कहना यह है सुनिये तथा धारण करिये–

स्वात्मविज्ञानविश्रान्तो ब्रह्महत्याशतैरपि।
न जातु स्पृश्यते पूर्ण नैर्मल्यमिदमेव हि।। १८।।

अपने आत्म–स्वरूप के अनुभव से जिसकी सम्पूर्ण शङ्काएँ दूर हो चुकी हैं अर्थात् जो परिपूर्ण आत्मस्वरूप बन चुका है वह सौ ब्रह्म–हत्याओं से भी कभी भी स्पृष्ट नहीं होता। बस यही पूर्ण नैर्मल्य है। तात्पर्य यह कि आत्म–स्वरूप में जो विश्रान्त हो चुका है अर्थात् जो सर्व–स्वरूप हो चुका है उसको सौ ब्रह्महत्याओं से भी स्पर्श नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि जिसको आत्म–स्वरूप का परिपूर्ण विज्ञान हो चुका है अर्थात् आत्मस्वरूपाऽतिरिक्त जब दूसरी वस्तु नहीं दिखती तब ब्रह्महत्या आत्मस्वरूप से पृथक् कहां रहेगी? अतः सौ तो उपलक्षण है, अज्ञानी की दृष्टि में करोड़ों भी ब्रह्महत्या यदि वह करे तो भी उसको उससे कदाचित् भी स्पर्श नहीं होता। इन्द्रजाल का खेल करने वाला दूसरों को घड़ी का तोड़ डालना या बकरी का मार डालना आदि अनेक बातें दिखलाता है जो कि व्यावहारिक पुरुषों की दृष्टि में अत्यन्त अद्भुत हैं, क्या वे बातें उस ऐन्द्रजालिक के लिये भी सत्य हैं?

नहीं। तद्वत् अनन्तकोटि–ब्रह्माण्ड का पञ्चकृत्य–रूप* इन्द्रजाल करने वाले परशिव ऐन्द्रजालिक को ही क्या वे बातें आश्चर्य में डाल सकती हैं? नहीं। कदापि नहीं। कारण, वे सारी बातें तो उसकी अपनी कल्पित हैं। ऐसे ही परिपूर्ण ज्ञानी को ब्रह्म–हत्या सौ हों या करोड़, उसका उनसे क्या सम्बन्ध? बस यही पूर्ण नैर्मल्य है। यह बात निश्चित है।। १८।।

पूर्वोक्त बात को भली प्रकार वादी के हृदय में बिठाने के लिये एक उदाहरण पुन: दे रहे हैं। सावधान होकर सुनिए। ऐसी बातें बारबार सुनने में नहीं आतीं–

तुषारकिरणो गर्त्ते दुर्गन्धिजलपूरिते।
दुर्गन्धित्वं भजति किं स्वच्छायां पातयन्नपि।। १९।।

तुषार–किरण अर्थात् चन्द्रमा, दुर्गन्धि जल से भरे गढ़े में अपनी छाया को गिराता हुआ भी क्या कभी दुर्गन्धी होता है? तात्पर्य यह कि तुषार के अर्थात् बर्फ के समान अथवा बर्फ ही समझिये, जिसके किरण हैं, ऐसा चन्द्रमा। तुषार–किरण पद से हमारा यह अभिप्राय है कि जो परिपूर्ण शान्त है अत एव जो दूसरों को भी शान्ति प्रदान करता है वह चन्द्रमा दुर्गन्धि जल से भरे गढ़े में क्या अपने प्रतिबिम्ब को नहीं डालता? हां अवश्य डालता है। फिर भी वह दुर्गन्धी क्यों नहीं होता? उसको तो दुर्गन्धी होना चाहिये। परन्तु आज पर्यन्त किसी ने सुना या देखा नहीं कि चन्द्रमा ऐसी अवस्था में दुर्गन्धी होता है। कारण यह है कि वह पूर्ण निर्मल है। तथा उसका किसी पदार्थ के साथ

** सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह (स्वरूपगोपन) और अनुग्रह (स्वरूप–प्रकाशन) ये परमेश्वर की पांच पारमेश्वरी लीलाएं पञ्चकृत्य कहलाती हैं।*

सम्बन्ध नहीं है। देखने में तो अवश्य आता है कि चन्द्रमा का सम्बन्ध सभी पदार्थों से कुछ न कुछ है ही। यदि ऐसा नहीं तो पूर्ण–चन्द्र को देखकर समुद्र क्यों उमड़ आता है? तथा कैरविणी क्यों खिलती है? या चकोर अपनी चोचों को क्यों पसारते हैं? या औषधियों में रस क्यों आता है? भला यदि चन्द्रमा का हमसे कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा कहें तो चांदनी में हमें क्यों शीतलता प्राप्त होती है या जल क्यों शीत होते हैं? तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा का सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु से है तथाऽपि वह निर्मल होने के कारण उसको कभी भी कोई दोष नहीं लगता। इसी प्रकार ज़ानी पुरूष को किसी भी पाप से स्पर्श नहीं होता। अस्तु।। १९।।

कोई लोग मल के विषय में कुछ अन्य ही कहते हैं, इसका भी सङ्क्षेप से यहां सूचन कर देते हैं। सुनिये–

मलानां त्रितयं कैश्चित् स्वग्रन्थे प्रतिपादितम्।
वास्तवं नैव तत् किन्तु स्वानन्दोल्लास एव सः।। २०।।

किन्हीं ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में ऐसा प्रतिपादन किया है कि मल तीन हैं। वस्तुतः देखा जाए तो उन ग्रन्थकारों का ऐसा अभिप्राय नहीं है। हम तो यह कहते हैं कि यह तो स्वात्माऽऽनन्द का उल्लास–मात्र है। तात्पर्य यह कि कोई ग्रन्थकार अर्थात् शैव–शास्त्र के आचार्य अपने ग्रन्थों में कहते हैं कि मल तीन हैं तथा उनको क्रम से अर्थात् अवरोह–क्रम से आणव, मायीय, तथा कार्म, ऐसे तीन नाम हैं। वस्तुतः देखा जाए तो तीन ही हैं, ऐसी कोई बात नहीं। साधारणतया समझाने के लिये तीन विभाग किये

हैं*। वस्तुत: यह या वह अपने आत्माऽऽनन्द का उल्लास मात्र ही है। तात्पर्य यह कि उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका तात्पर्य यह नहीं कि बस मल तीन ही हैं अर्थात् तीन से अधिक भी नहीं तथा तीन से न्यून भी नहीं। इस बात को जानने के लिये आचार्य–अभिनवगुप्त के ग्रन्थ देखने चाहियें। उन्होंने यही लिखा है। पङ्क्तिशः न लिखा हो तथाऽपि उनके ग्रन्थों का सम्प्रदाय–पूर्वक अध्ययन करने से हम जो कह रहे हैं, यह ठीक प्रत्यभिज्ञात होगा। आजकल के अपने आपको शैवी बतलाने वाले कुछ काश्मीरी पण्डित वृथा ही झगड़ते हैं। परन्तु वस्तुत: उन्हें शैवी–ज्ञान के अनुभव का लेश–मात्र भी नहीं है। अस्तु।। २०।।

अब हम यह बतलाएंगे कि मल क्या है तथा पूर्ण–निर्मल–स्वरूप क्या है? सुनिये एकाग्र चित्त से सुनिये–

मालिन्यमन्यथा ज्ञानं संसारोल्लासकारणम्।
ज्ञानं यथार्थ नैर्मल्यं संसारोच्छेदकारणम्।। २१।।

विपरीत–ज्ञान को मलिनता कहते हैं अर्थात् अविद्या का ही नाम मल है तथा जो कि संसार को उल्लासित करता है। यथार्थ–ज्ञान को नैर्मल्य कहते हैं

** अपने स्वरूप का अज्ञान ही मल कहलाता है। प्रारम्भ में वह सूक्ष्म होता है और क्रम से विकास को प्राप्त करता है। प्रारम्भिक अवस्था में उसका रूप स्वरूप का सङ्कोच मात्र होता है। वहां उसे आणव नाम दिया गया है। आगे विकसित होता हुआ वह भेद दृष्टि के रूप में प्रकट होकर मायीय मल कहलाता है। वही पूर्ण विकास की अवस्था में कर्म–अभियान और कर्म वासना के आकार में प्रकट होकर कार्ममल कहा जाता है। है यह सारा आत्मविलास ही है।*

जो कि संसार को नष्ट कर देता हैं। तात्पर्य यह है कि आपेक्षिक विद्या एवं अविद्या ही निर्मलता तथा मलिनताएं हैं जो कि संसार को उत्पन्न करना एवं नष्ट करना किया करती हैं।।२१।।

उभाभ्यामप्यतीतं यत् पूर्णं नैर्मल्यमेव तु।
स्वात्माऽभिन्नं महाविद्यास्वरूपं तद्विराजते।। २२।।

इन दोनों से अतीत अर्थात् परे जो कि पूर्ण नैर्मल्य है वह तो आत्म–स्वरूप से पृथक् नहीं है तथा महाविद्या–स्वरूप से विचित्र प्रकार से चमका करता है। तात्पर्य यह है कि चाहे जीव–भाव हो या शिव–भाव, दोनों कल्पित हैं एवं दोनों ही अपेक्षा से मलिन तथा निर्मल कहे जाते हैं। हैं दोनों कल्पित ही। यद्यपि इन दोनों से अतीत, इनसे अतिरिक्त नहीं तो भी इन भावों को सम्मुख रखकर समझाने के लिये यह 'अतीत', ऐसा कहा गया है*। कारण, यह आत्म–स्वरूप ही है। उससे पृथक् कुछ नहीं, ऐसा सिद्धान्त है। अत एव समझाने के लिये ही निश्चय से हम उनको पूर्ण–नैर्मल्य कह रहे हैं। वस्तुतः यह महाविद्या–स्वरूप

** मालिन्य और नैर्मल्य से अतीत जो पूर्ण नैर्मल्य तत्त्व है वह तो स्वयं परिपूर्ण परमेश्वर ही है। अतः वह मालिन्य और नैर्मल्य के रूपों में स्वयमेव प्रकट होता हुआ उन रूपों में ठहरता है। अतः वे दोनों तद्रूप होते हुए उससे भिन्न नहीं हैं। तो उसे उनसे अतीत कैसे कहा जा सकता है। शङ्का ठीक है। वह उनसे अतीत नहीं होता, परन्तु समझाने के लिए ऐसा कहा जाता है। मालिन्य और नैर्मल्य के उदय के और लय के होते रहने पर भी उसके पूर्ण नैर्मल्य स्वरूप में कोई भी विकार नहीं आता है, वह सदैव वैसा का वैसा ही बना रहता है, इस तरह के इस मालिन्य और नैर्मल्य से प्रभावित न होने के विचार से उसे इनसे अतीत कहा गया है।*

आत्म–विलास ही नाना प्रकार से हो रहा है। अधिक क्या कहा जाए भला।।२२।।

अभी तक प्रायः प्रत्येक कोण से इसी एक बात को समझाया गया है। अब अन्त में एक बात प्रार्थना या आशीर्वाद के समान कुछ कह कर अनन्तर प्रकरण का सम्पूर्ण सिद्धान्त एक ही कारिका में बतलाते हैं। सुनिये–

सद्गुरूपासनाप्राप्तपूर्णनैर्मल्यनिश्चयात्।
स्वानन्दकारणं पूर्णनैर्मल्यमनुभूयताम्।। २३।।

सद्गुरु की उपासना से प्राप्त पूर्ण–निर्मलता के निश्चय से अपने आनन्द के कारण–भूत पूर्ण–नैर्मल्य का अनुभव करिये, तात्पर्य यह कि पूर्ण–नैर्मल्य क्या है? इस बात का रहस्य सद्गुरु की सेवा से ही प्राप्त हो सकता है। सद्गुरु की उपासना अवश्य ही करनी चाहिये। हां, यह बात पृथक् है कि कोई भी काम क्रमशः अन्तिम उन्नति पर्यन्त पहुँचाने में सहायक हो सकता है। परन्तु निश्चय से वैसा हो ही जाता है यह बात नहीं। वह तो तभी हो सकता है कि जब पूर्ण सहायक मिले। जैसे समुद्र से सूर्य–किरणों के द्वारा आकृष्ट जल मेघ–रूप होकर हिमालय की चोटियों पर गिरा तथा वहां तो हिम हो गया, हिम होकर न जाने कब तक पड़ा रहना होगा? वहां से समुद्र में आने के लिये यदि किसी महानदी में न आकर पशु पक्षि आदि लाखों या करोड़ों योनि के प्राणियों के पेट में जाए तथा पुनः वहां से निकले तो पुनः न जाने कितना समय लगेगा। क्या निश्चय है। परन्तु महानदी में उसका ही एक–मात्र आश्रय लेकर उसकी शरण हो जाए तथा पूर्ण शरण हो जाए तो समुद्र में शीघ्र ही पहुंच जाएगा। बस, सद्गुरु की उपासना से अपने आप को पूर्ण–नैर्मल्य के निश्चय हो जाने से, पूर्ण–नैर्मल्य जो कि अपने आत्मानन्द का एक–मात्र कारण है, उसकी अनुभूति हो

जाती है। अनन्तर वह महाविद्या–स्वरूप पूर्ण–नैर्मल्य आत्मविलास प्रत्यभिज्ञात होता है*। गुरु सत् कैसे होता है, अर्थात् सदगुरु किसको कहते हैं? इस बात को हम तीसरे प्रकरण में तेईसवीं कारिका में दिखा चुके हैं। तात्पर्य यह है कि यहां तक जो कुछ कह चुके हैं इसकी वास्तविकता सद्गुरु की कृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकती तथा उसके प्राप्त होने पर पूर्ण–निर्मलता का अनुभव अपने आप में ही प्रकट हो जाता है। अनन्तर उसके मिटने की या उसको स्मरण रखने की आशङ्का अथवा आश्वयकता कुछ भी नहीं रहती। बस अन्तिम प्रार्थना या आशंसा या आशीर्वाद कह लीजिये, यही है कि अपने पूर्णानन्द का समरस एक–मात्र कारण परिपूर्ण आत्मस्वरूप पूर्णनैर्मल्य का अनुभव करते हुए तद्रूप हो रहें।।२३।।

अब इस प्रकरण की समाप्ति में सम्पूर्ण प्रकरण का फलितार्थ, जो कि बीज–स्वरूप ही है, अपेक्षाकृत भेद से यह फल–स्वरूप हो जाता है। अत एव इसको उपसंहार भी कहते हैं। अभी तक जो कुछ इस प्रकरण में निश्चित किया गया वह यह है, सुनिये–

** स्वयमेव स्वविलास की लीला के ही द्वारा अपने पूर्ण नैर्मल्यरूपी स्वभाव को भुला डाला गया है। उसी विलास की लीला का अङ्ग बनी हुई सद्गुरु की उपासना के द्वारा उस भुला डाले हुए अपने वास्तविक स्वभावभूत नैर्मल्य को पहचान कर प्राणी ने कृतकृत्य बनना होता है। यह भी उसका स्वभाव ही है।*

निजसहजविलासोल्लासितां विश्वरूपा–
मनुपमचितिवह्नावाहुतिं होमयन्तः।
निजविलसितपूर्णाऽऽनन्दपीयूषपानै–
रधिहृदि विजयन्ते पूर्णनैर्मल्यभाजः।। २४।।

अपने स्वरूप विलास से उल्लासित विश्वरूप आहुति का सादृश्य–रहित चिद्रूप अग्नि में होम करने वाले* अपने विलास–रूपी पूर्णाऽऽनन्दाऽमृत के पान से पूर्ण–नैर्मल्य को प्राप्त करते हुए हृदय में सर्वोत्कर्ष से या विलक्षण स्वरूप से शोभित हो रहे हैं। तात्पर्य यह कि यह विश्वरूपी आहुति को अपने स्वभाव–भूत विलास से उल्लासित करके अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व आत्म–स्वरूप के सहज विलास से ही उल्लासित होता है। अथ च वह आत्म–स्वरूप में होम करने के लिये आहुति का काम देता है। तथा इस विश्वरूप की आहुति आत्मस्वरूप में डाली जाती है। कारण, आत्मस्वरूप पूर्ण चैतन्य है। पूर्ण चैतन्य अनन्त विश्व का ग्रास करने के कारण यह अग्नि ही है। परन्तु यह व्यावहारिक अग्नि के समान लौकिक नहीं है। यह तो अनुपम है। कारण, इसके साथ उपमा देने के लिये दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं। अर्थात् उसकी तो प्रतीति

** इस विश्व में प्रकट होने वाले समस्त भाव, भुवन, शरीर, करण, प्राण आदि पदार्थों को और एक साथ समस्त विश्व को ही अपना आप ही निश्चय पूर्वक समझना और उस तरह से साक्षात् अनुभव करना ही ज्ञान योग का होम होता है। जैसे होम द्रव्य अग्नि में पड़ते ही गलकर अग्नि ही हो जाता है, वैसे ही ज्ञानयोग के अभ्यास में उपरोक्त समस्त पदार्थ आत्मा में भावना से विलीन होकर आत्मरूप में ही अनुभव में आ जाते हैं। उसी ज्ञान–योग की साधना की ओर यहां निर्देश है।*

नहीं होती। ऐसी अद्भुत चिदग्नि में विश्वरूपी आहुति का होम करने वाले अपना विलसित अर्थात् विलासरूपी जो पूर्ण आनन्द वही अमृत, उसके पान से, तात्पर्य यह है कि कर्म–काण्डी अग्नि–होत्रादि यज्ञादिकों से स्वर्ग को पाते हैं। तथा वहां अमृत पीते हैं। एवं उस अग्नि–होत्र का साधन अग्नि, लौकिक हुआ करती है, जिसमें कि लकड़ी, घृत, दुग्धादि या पशु–परोडाशादि का होम किया जाता है। परन्तु इस लौकिक यज्ञ से लौकिक स्वर्ग, तथा लौकिक ही वहां का अमृत मिलता है। तथा लौकिक ही निर्मलता भी प्राप्त होती है। परन्तु यह यज्ञ तो कुछ अद्‌भुत ही है। इस यज्ञ में चिद्रूपी अद्‌भुत अग्नि तथा जो कि आत्म–स्वरूप ही है। यहां आहुति अर्थात् होमद्रव्य भी सम्पूर्ण विश्व है। एवं यहां होम में यजमान की जो कल्पित यजमानता है, उसका भी होम हो जाता है। तथा यह विश्व–रूप आहुति भी लौकिक आहुतियों के समान कष्ट से नहीं पाई जाती, किन्तु यह तो अपने आत्म–स्वरूप से सहज ही विलास–मात्र से ही प्राप्त हो जाती है। अथ च इस प्रकार इस होम को करने वाले अपने विलास–स्वरूप पूर्णाऽऽनन्दाऽमृत–पान करते हैं। अनन्तर पूर्ण–नैर्मल्य–स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। हां, यहां अमृत तथा उसका पीना, एवं पूर्ण–नैर्मल्य भी वही है। ऐसी अलौकिक बात है। अधिक क्या, इनका स्वर्ग कोई आपेक्षिक स्वर्ग नहीं, कि जहां से पुण्य क्षीण होने पर पुन: लौटना पड़े? यह तो अलौकिक स्वर्ग है। यहां आने जाने में पूर्ण स्वाधीनता रहती है। यह स्वर्ग अलौकिक होने के कारण कर्मों से उत्पन्न नहीं किया जाता, किन्तु यह स्वत: सिद्ध आत्मस्वरूप ही है। अत: ऐसा होम करने वाले हृदय में अर्थात् अपने आप में स्वरूप–धन्य तथा स्वनाम–धन्य हो रहते हैं। कारण, यहां कोई उपमा ही नहीं हो सकती। अत: ऐसे पूर्ण निर्मल, पूर्ण स्वतन्त्र महाविद्यास्वरूप एक अद्वितीय सच्चिदानन्दकन्द आत्मविलास का विजय है।। २४।।

पूर्णनैर्मल्यरूपेण पूर्णनैर्मल्यरू पिण:।
पूर्णनैर्मल्यस्वरूपं स्वाऽऽनन्दाय निरूपितम्।।२५।।

पूर्ण नैर्मल्यरूप ने पूर्ण–नैर्मल्यरूपी के पूर्णनैर्मल्य के स्वरूप को अपने आनन्द के लिये निरूपण किया। तात्पर्य यह कि यह पूर्ण–नैर्मल्य–स्वरूप परमेश्वर परमात्मा अपने स्वरूपभूत पूर्णनैर्मल्य को अपने आनन्द के लिये अर्थात् आत्माऽऽनन्द के लिये उस पूर्ण–नैर्मल्य–रूप ने निरूपण किया। तात्पर्य यह है कि इस प्रकरण का कारण, उद्देश्य, विषय, फल तथा सम्बन्ध सभी कुछ पूर्ण–नैर्मल्य है। जिनकी दृष्टि में कर्तृ–कर्म–क्रिया की एकाऽधिकरणता* से विरोध हो उनको विरोध होता रहे, यहां उससे हानि लेश मात्र भी नहीं, कारण, परिपूर्णता में कभी भी अनुपपति नहीं हुआ करती। अत: इसमें इस प्रकरण की या इसको निरूपण करने वाले की हानि नहीं। हानि तो कल्पित है तथा कल्पितों को ही हुआ करती है, अत: यह जो कुछ लिखा गया है, वह सब ठीक ही है।। २५।।

इति श्री–महामहिम–आचार्य–श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते
स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुद्भासिते
आत्मविलासे नैर्मल्यस्वरूपनिरूपणं
नाम पञ्चमं प्रकरणम्।

** भेददर्शी प्राणी कर्ता, कर्म और क्रिया को परस्पर भिन्न ही समझते रहते हैं, उनके मत में ये तीन भाव एक ही पदार्थ में ठहर नहीं सकते, अर्थात् एक ही पदार्थ कर्ता भी हो, कर्म भी हो, क्रिया भी हो, यह एकाधिकारणता उनकी दृष्टि में अनुपपन्न है। परन्तु अद्वैतदृष्टि से सम्पन्न महानुभावों को इस एकाधिकरणता में कोई भी अनुपपत्ति या विरोध नहीं दीखता। इसका कारण उनकी अद्वैत–अनुभूति की महिमा ही है। उसके बल से ऐसा कह सकते हैं और यथार्थ कहते हैं।*

॥ श्रीः ॥

षष्ठं प्रकरणम्

— :o: —

पूर्णकर्तृत्वनिरूपणम्।

यहां तक पांच प्रकरणों में आत्मतत्त्व का विचार उन उन कोणों को दृष्टि में रख कर एक ही बात को दृढ़ता से समझाया गया है। उसमें पाँचवें प्रकरण में पूर्ण–नैर्मल्यका निरूपण किया गया। प्रसङ्ग से तत्त्व–विचार, कर्माऽकर्म–विचार, तथा बन्ध–मोक्ष–विचार भी कर लिया गया है। अब एक शङ्का अन्य भी, जो कि प्रायः नासमझ लोगों में ही देखी जाती है। कभी कभी बड़े विद्वान् भी हठ कर बैठते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो विद्वान् तथा हठ करना, ये तो परस्पर विरोधी बाते हैं। वस्तुतः वे विद्वान् पूर्ण विद्वान् नहीं हैं। किन्तु अनुभव–शून्य होने के कारण ऐसा किया करते हैं। अस्तु। तथाऽपि उनकी उस शङ्का का उत्तर भी देना चाहिये। कारण, शङ्का कोई भी हो, तथा कैसी भी हो, शङ्का होते ही समाधान के लिये उद्योग करना ही चाहिये, कारण, शङ्कित को समाधान के बिना स्वस्थता या शान्ति कैसे हो सकती है? अथ च इस ग्रन्थ का उद्देश तो पूर्ण सुख प्राप्ति कराना है।

अत एव उस शङ्का को पूर्वपक्ष–प्रति–पादन–पूर्वक उत्तरपक्ष से सिद्धान्त दिखला कर ठीक कर लेना ही उचित है। सुनिये; अब प्रकरण का सिद्धान्त, बीज, तथा मङ्गलाचरण तन्त्र से दिखाते हैं–

साक्षी चिन्मात्ररुपोऽहम्परमात्मा परः शिवः।
कर्तृताकर्तृताऽस्पृष्टः पूर्णकर्ता जयत्यसौ ॥ १ ॥

सर्वदा प्रत्यक्ष देखने वाला चिन्मात्र–स्वरूप अहं–रूप परमात्मा जो कि परम कल्याण–स्वरूप है, अत एव जो सर्वत्र अहं–रूप से गोचर हो रहा है, अत एव जो प्रत्यक्ष है, कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों का जिसको स्पर्श नहीं होता, अतः जो स्वयं सिद्ध पूर्णकर्त्ता हैं, उसका जय जयकार है। तात्पर्य यह, कि सम्पूर्ण विश्व की उपपत्ति लगाने के लिये इसका मूल कोई है, ऐसा तो मानना ही पड़ता है। उसी को नैयायिकादि कर्त्ता कहा करते हैं। परन्तु दूसरे वेदान्ती आदि जगत् को भ्रम बतला कर उसके मूल को अकर्त्ता ठहराया करते हैं। तात्पर्य यह कि जगत् भ्रम हो या सत्य, इसका मूल तो अवश्य ही कुछ न कुछ निर्भ्रान्त सत्य है। यह बात स्वयमेव प्रकट हो जाती है। इस बात को दूसरे प्रकरण में भली भांति दिखलाया गया है। प्रसङ्ग से यह भी दिखलाया गया है, कि सम्पूर्ण बातों से अर्थात् कल्पित, दृश्यमान, या भासमान कह लीजिए, सभी वस्तु–मात्र से उनके नाना प्रकार रूपान्तरित होने से एक ही बात, जो कि मूल है, वह अवश्य ही कुछ न कुछ ज्ञात हो ही जाती है। इस बात को भी दूसरे प्रकरण में कहा

गया है। सम्पूर्ण जगत् को अर्थात् सौषुप्त, स्वाप्न, तथा जाग्रत्क जगत् को, स्थूल, सूक्ष्म तथा अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात हो जाता है, कि सम्पूर्ण 'अहम्' से परिपूर्ण है*, अर्थात् 'अहम्' ही है। द्वैत–दृष्टि में 'अहम्' से सञ्चालित है, परन्तु अद्वैत–दृष्टि में अहमतिरिक्त मृगजल होने के कारण 'अहम्' ही है। परन्तु इससे भी परे अर्थात् कल्पित आपेक्षिक द्वैत अथ च अद्वैत इन दोनों को समरस परिपूर्ण ही देखने पर ज्ञात हो जाता है, कि वस्तुतः क्या है? इस बात को अनुभवी पुरुष ही जान सकते हैं। किन्तु कहना कठिन है, तथाऽपि यदि कुछ प्रयत्न किया जाए, तो थोड़ा सा कहने में भी आ सकता है। अतः यहां यह कह दिया, कि 'अहम्परमः' अर्थात् अहम् उत्कृष्ट जिसमें है, अथवा 'अहम्' से जो उत्कृष्ट है**। तात्पर्य यह है, कि ओतप्रोत–भाव+ से एक ही वस्तु है, तथा वह परशिव कही जाती है। अर्थात् पञ्चम

** सम्पूर्ण विश्व "अहं" से भरा हुआ है, व्याप्त है, और "अहं" ही है। जैसे सारे के सारे स्वर्णमय अलङ्कार सोना ही हैं वैसे ही सब कुछ "अहं" अर्थात् आत्मा ही है।*

*** " अहं परम उत्कृष्टो यस्मिन् स आत्मा" तात्पर्य यह है कि आत्म स्वरूप में अहं अर्थात् अपना आप का प्रकाश और विमर्श ही आत्म तत्त्व का सारभूत स्वरूप है।*

+ जैसे माला के दाने धागे में प्रोत होते हैं और धागा उनमें ओत होता है, वैसे एक ही आत्म तत्त्व में सब कुछ प्रोत है और वह सबमें ओत है। वह इस तरह से सब में ओत है जिस तरह से सोना समस्त स्वर्णमय अलङ्कारों में ओत(व्याप्त) होकर ठहरता है। सब कुछ उसी में इस तरह से प्रोत है जिस तरह समस्त स्वर्णालङ्कार सोने में प्रोत होकर रहते हैं। इस तरह आत्म–तत्त्व ओत–प्रोत–भाव से ठहरा रहता है।

प्रकरण में कहे छत्तीस तत्त्वों का पर स्वरूप शिव अर्थात् कल्याण–स्वरूप, एवं आत्म–स्वरूप है। यह चिन्मात्र–रूप है। अर्थात् जो प्रकाशमान है, वह सब यही है। प्रकाशमान से अतिरिक्त तो कुछ भी नहीं है, कि जिस विषय में शङ्का या समाधान किया जाए। अस्तु। यह आत्म तत्त्च साक्षी है। तात्पर्य यह, कि पञ्चम प्रकरण में चौदहवीं कारिका में दीपक का दृष्टान्त देकर साक्षित्व का निरूपण किया गया है। अब इसी कारण कोई लोग उसे कर्त्ता तथा दूसरे अकर्त्ता कह कर आपस में झगड़ा करते हैं। परन्तु आत्म–तत्त्व एकमेवाद्वितीयं होने से कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनों भावों से छुआ तक नहीं जाता। परन्तु इस कर्तृत्व और अकर्तृत्व का आंत्मविलास होने के कारण वह उससे छुआ सा ही सर्वदा दिखाई देता है*। इसी कारण तो इतने मत मतान्तरों के परस्पर कलह होते हैं। अत एव इसको विलास कहना पड़ता है। सम्पूर्ण शङ्काओं को मिटाना यह भी विलास–मात्र होने के कारण आत्म–तत्त्व को पूर्ण–कर्त्ता ऐसा कहा गया है**। इस प्रकरण में इसी

** कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही परस्पर सापेक्ष भाव और कल्पित भाव हैं। अतः उस कल्पनातीत आत्मा का स्पर्श ये भाव नहीं कर सकते। परन्तु इनकी इस कल्पित सत्ता का मूलाधार आत्मतत्त्व का अपना स्वभावभूत विलास ही है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उनका स्पर्श उसे होता सा हो।*

*** शङ्काओं के आधार को खड़ा करके उनको उठाते रहना और उचित युक्तियों के द्वारा उनको पुनः शान्त करते रहना, ये सभी काम वह आत्म तत्त्व स्वयमेव अपने स्वभावभूत विलास से करता रहता है। अतः ऐसा करते रहने के कारण उसे पूर्ण–कर्त्ता कहा जाता है। आपेक्षिक कल्पित कर्ता नहीं, अपितु स्वाभाविक परिपूर्ण कर्तृत्व शक्ति से अर्थात् परिपूर्ण परमेश्वरत्व से युक्त कहा जाता है।*

एक बात पर विशेष–रूप से विचार किया जाएगा। हां, हम इस बात को कई बार कह चुके हैं कि आत्मतत्त्व परिपूर्ण है अर्थात् जब वह विश्व–दृष्टि से देखा जाता है, तब ऐसा ज्ञात होता है कि सभी क्रियाएं अर्थात् सभी शक्तियां क्रम से, अक्रम से तथा विक्रम से* कभी कल्पित–रूप में, अर्थात् आपेक्षिक प्रकाश–रूप में, तो कभी अप्रकाश–रूप में विलास हो रही हैं या कर रही हैं या जान रही हैं, कुछ भी कह लीजिये। हां यहां इस बात को भी समझ रखना चाहिए कि स्वभाव–शक्ति अर्थात् जो सर्वदा आत्म–स्वरूप ही है, वह विलास है। तथा उसी के एक–मात्र अधिष्ठान पर उसी के कारण या उसी की फल–स्वरूप इच्छा आदि अनन्त शक्तियां हैं, वे सब साधारण विभाग करने पर अर्थात् समझने के लिये तीन भागों में बँटती है। अत्यन्त स्थूल शक्ति का नाम क्रिया, उससे सूक्ष्म शक्ति का, अर्थात् सूक्ष्म अवस्था का नाम ज्ञान हो सकता है। तथा उससे भी सूक्ष्म शक्ति का नाम इच्छा हो सकता है। एवं इन तीनों में अनुगत महाकारण–रूप शक्ति को

** क्रिया शक्ति के व्यवहार में नियतक्रम होता है, ज्ञानशक्ति के व्यवहार में नियतक्रम नहीं होता। वहां प्राणी कभी पहले तो कार्य को ही जान सकता है और पश्चात् कारण को। इच्छा शक्ति के व्यवहार में जो विशेषता होती है उसे विक्रम कहते हैं। विक्रम से तात्पर्य यह है कि वहां एक साथ सब कुछ हो सकता है। और सद्यः हो सकता है।*

उसे 'विशिष्टक्रम या 'विगतः क्रमोयस्मात्' ऐसा जाना जाता है।

विलास कहते हैं* । यह भी इन कल्पित तीन के कारण चौथी विलास है। तथा विलास की ही पराकाष्ठ को समझने के लिये परमात्मा या परशिव नाम रखा गया हैं। वस्तुत: विलास तथा आत्मा भिन्न नहीं। यही क्यों? इच्छादिक भी, कोई कुछ भी पृथक् नहीं है। परन्तु यह रहस्य बिना सद्गुरु की उपासना के प्राप्त नहीं होता, इस बात को अन्य प्रकरणों में कह दिया गया है। अस्तु। यहां पर विलास का विचार अर्थात् वह है या नहीं। तथा क्यों है? अर्थात् उसका फल, उद्देश, तथा कारण, क्या है तथा वह विलास कैसा है? इन बातों का विचार नहीं करना है। कारण वह दूसरे प्रकरण में कर दिया गया है। ऐसे ही इच्छा–शक्ति का सब प्रकार से विचार करके, कल्पिताऽकल्पित परिपूर्ण समझने तथा आत्म–दृष्टि से समझाने के लिये उसको पूर्ण स्वातन्त्र्य निर्दिष्ट कर साङ्गोपाङ्ग उसका विचार तीसरे प्रकरण में कर दिया है। ज्ञान–शक्ति का साङ्गोपाङ्ग विचार चौथे प्रकरण में किया गया है। अनन्तर प्रासङ्गिक उसी आत्म–स्वरूप की जागतिक तत्त्वोपपत्ति समझाने के लिये तथा कर्माऽकर्मादि–विचार के लिये पूर्ण–नैर्मल्य का साङ्गोपाङ्ग विचार पञ्चम प्रकरण में किया गया है। तीसरी शक्ति अर्थात् पारमेश्वरी महाशक्ति का या आत्म–स्वरूप का कहिये, पूर्ण स्थूलता का मूल जो क्रिया–शक्ति अर्थात् शक्ति की स्थूल दशा का नाम ही क्रिया–शक्ति है।

** इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीनों ही शक्तियों के भीतर ओत–प्रोत भाव से रहने वाली आत्मा की स्वभाव भूत परमेश्वरता को ही उसका विलास कहा गया है। उसी विलास के कारण परमेश्वर सृष्टि संहार आदि पांच कृत्यों को चाहता है, जानता है और करता है, वह विलास इच्छा आदि तीन की अपेक्षा से चतुर्थ कहलाता है। यह विलास ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र आदि में भी रहता है परन्तु वहां परिमित रूप में ही रहता है। अपरिमित और परिपूर्ण विलास को ही परमेश्वर या परब्रह्म या परमशिव कहते हैं।*

इस बात को हम कह चुके हैं। उसी क्रिया–शक्ति* के कारण जो कुछ आरोप** होते हैं उनका भली भांति विचार करने के लिये यह प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है। अस्तु। अब यह देखना है कि यह क्रिया–शक्ति क्या है? सुनिये–इस क्रिया–शक्ति के कारण ही कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनों भावों का आत्म–स्वरूप में विलास होता है। यदि क्रिया–शक्ति का विकास न हो तो कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व उपपन्न नहीं हो सकता। विश्व में अर्थात् आत्म–स्वरूप का नाना–अवस्थाओं में या यों कहिये कि विश्व–दृष्टि में आत्म–स्वरूप की पूर्ण विकसिताऽवस्था में क्रिया–शक्ति का ही सर्वत्र बोलबाला है, अनन्तर तूती की आवाज नक्कारखाने में कौन सुने+ ? इसी प्रकार सूक्ष्म शक्तियों की स्थिति रहती है। यद्यपि जिनकी श्रवण–शक्ति तथा मनन–शक्ति एवं निदिध्यासन–शक्ति पूर्ण–रूप से विकसित होती है, उनको तो सब कुछ ज्ञात हो जाता है। किन्तु साधारण तो क्रिया–शक्ति को ही देखा करते हैं। अत एव अत्यन्त स्थूल–बुद्धि अर्थात् क्रिया–शक्ति–प्रधान लोगों को

** पारमेश्वरी महाशक्ति के अर्थात् परिपूर्ण विलासमयी परमेश्वरता की अभिव्यक्ति के तीन मुख्य रूप होते हैं–*

१. इच्छाशक्ति, २. ज्ञानशक्ति, ३. क्रियाशक्ति। क्रिया शक्ति उसका तीसरा रूप है। उसी के द्वारा परमेश्वर इस स्थूल विश्व के पांच कृत्यों को करता रहता है। अतः क्रियाशक्ति पारमेश्वरी स्वभाव शक्ति का स्थूल रूप है।

*** वे आरोप ये होते हैं कि परमेश्वर में आपेक्षिक कर्तृत्व है या उसमें आपेक्षिक अकर्तृत्व हैं। वह कर्ता है या अकर्ता है, कोई नासमझ उसे कर्ता कह बैठते हैं और कोई अकर्ता।*

+ इस सांसारिक पञ्चकृत्यात्मक व्यवहार में जब क्रिया शक्ति की प्रधानता अभिव्यक्त होकर अपना प्रभाव जमा गई तो ज्ञान–शक्ति और इच्छा शक्ति की कौन सुने!

क्रम से आत्म स्वरूप–दर्शन के लिये, सत्तत्त्व को प्रकट करने के लिये अर्थात् इस समस्त विश्व का मूल कारण एक है तथा वही पालन, पोषण तथा संहार को इनका निमित्त–कारण हो कर करता है, इस प्रकार गौतम, कणाद, आदि आचार्य समझाते हैं*। तथा बहुत अर्थात् आनन्दतत्त्व** को प्रकट बतलाने के लिये विशिष्ट अधिकारियों को अर्थात् इच्छा–प्रधान–पुरुषों को समझाने के लिये वेदान्ती लोग विश्व को मृग–जल के समान मिथ्या समझाते हुए आत्मतत्त्व को अकर्त्ता कह कर समझाते हैं। तथा इन दोनों के बीच रहने वाले जो कि ज्ञान–प्रधान पुरूष हैं, जो कि विश्व को ज्ञान–शक्ति के ही विकास से विकसित देखते हैं उनको आत्म–स्वरूप समझाने के लिये प्रकृति–पुरुष–विवेक तथा ईश्वराऽनुग्रह से उसका होना, इस बात को अर्थात् आत्म–स्वरूप की चित्ता को प्रकटित करने के लिये साङ्ख्य तथा योगी प्रयत्न करते हैं। परन्तु इन सभी बातों के सीमित होने के कारण परमात्म–स्वरुप को पूर्ण–रूप से समझाने के लिये पूर्ण–दृष्टि से निराशंस पुरुषों को उनकी

** न्याय वैशेषिक के अनुसार संसार परमाणुओं से बनता है। परमाणु नित्य द्रव्य हैं, ईश्वर उन्हें जोड़ कर संसार की सृष्टि करता है और उन्हें अलग अलग करके इसका संहार करता है। इस तरह से वह कुम्हार की तरह जगत् का निमित्त कारण है। ऐसा निमित्त कारण होने के कारण ही वे उसे जगत् का कर्ता कहते हैं।*

*** आनन्द तत्त्व वस्तुतः असीम है। असीम को संस्कृत में बृहत् कहते हैं। इसी कारण सच्चिदानन्द तत्त्व को वेदान्ती ब्रह्म नाम देते हैं। ब्रह्म शब्द से उनका तात्पर्य बृहत् आनन्द तत्त्व है। वेदान्त मत में केवल वही सत्य है। जगत् मिथ्या है। तो जगत् है ही नहीं। इस कारण ब्रह्म जगत् का कर्ता न होता हुआ अकर्ता है, ऐसा उनका मत है।*

पूर्ण–कामना* की अविचलित एक–रस आत्म–स्वरूपावस्थिति* रखने के लिये आरम्भ, परिणाम, तथा विवर्त्त, इन तीनों से अतीत या निर्विवाद स्वयं सिद्ध अनुभव से सिद्धसम्प्रदायाऽनुसार यह प्रकरण लिखा है। अत एव सर्वदा सर्वत्र 'अहम्' रूप से परिपूर्ण परशिव का विजय है। तात्पर्य, कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व समरस भाव से हमारा अपना स्वरूप है। ऐसे परमात्म–स्वरूप को पूर्ण–कर्ता कहा गया है। अस्तु।। १ ।।

अब आगे सुनिये–

वदन्ति केचिदात्मानमकर्तारं तथाऽपरे।
विश्वकर्तारमिति तत् वस्तुतो द्वयमप्यसत् ।। २।।

कोई लोग आत्म–स्वरूप को अकर्ता कहते हैं तथा दूसरे लोग विश्व का कर्त्ता कहते हैं। वस्तुत: दोनों ही बातें असत् ही हैं अर्थात् कल्पित मात्र हैं। तात्पर्य यह कि वेदान्ती लोग विश्व को आत्मा में मृग–जल के समान भ्रम बतलाकर कहते हैं कि विश्व जब वस्तुत: उत्पन्न ही नहीं हुआ, तब आत्म–स्वरूप को कर्त्ता कैसे कह सकते हैं? अत: उनका कहना है कि आत्मा अकर्त्ता है। एवमेव दूसरे यह कहते हैं कि जगत् को असत् क्यों मानना? वह कहते हैं कि जगत् असत् नहीं सत्य है। इसी कारण तो हम सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं। हां, एक बात यह है

** उपरोक्त तीनों वाद सीमित दृष्टि के वाद हैं। अत: जिन्हें किसी भी विषय की इच्छा नहीं ऐसे उत्तम अधिकारियों को परिपूर्ण आत्म–तत्त्व में सदा के लिए ठहराए रखने के लिए सिद्धि से सम्पन्न महापुरूषों के विचारों के अनुसार स्वत: सिद्ध और स्वानुभव द्वारा सिद्ध परिपूर्ण परमेश्वरता के सिद्धान्त को इस प्रकरण में लिखा जा रहा है।*

कि वस्तुत: इसकी अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। तथा अन्त में यह ठीक भी जंचती है, परन्तु साधारण पुरुष इस बात को नहीं समझ सकते। उन्हीं को क्रमश: वह अधिकार पाने के लिये अर्थात् उस बात को समझाने के लिये हम जगत् को सत्य मान कर यही कहेंगे कि विश्व–व्यवहार चलाने के लिए किसी नियन्ता की आवश्यकता है। अन्यथा सारा विश्व नियमित–रूप से काम न करेगा तथा यत्र तत्र सर्वत्र उथल–पुथल हो जाएगी। परन्तु देखने में तो ऐसा आता है कि तिनके से लेकर पहाड़ तक तथा कीड़ी मकोड़ी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी अपने अपने काम यथाऽवस्थित कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण विश्व की ओर देखने से ज्ञात होता है कि सभी वस्तुओं में संयोजक–वियोजक एक कार्य–कारण–भाव वर्तमान है। अत एव इस कार्य–कारण–भाव का नियमित–रूप से उपयोग करने वाला एक कोई इस से आक्षिप्त होता है। इसी वास्ते गौतम–मताऽनुयायी तथा कणाद–मताऽनुयायी कहते हैं कि नित्य द्रव्यों से संयोजन–वियोजनादि शक्तियों से अर्थात् ज्ञान से ज्ञानाऽधिकरण ज्ञानी आत्मा इस सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि आदि किया करता है। अत: आत्मा को विश्वकर्त्ता कहना चाहिये। अस्तु। परन्तु हम यह बात कहते हैं कि ये सब बातें आपेक्षिक अर्थात् कल्पित होने के कारण असत् हैं। कल्पित की जब आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं, तब उसका कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व कहां हो सकता है? अर्थात् किसमें हो सकता है? हां, असद्–दृष्टि में अर्थात् अपूर्ण–दृष्टि में अर्थात् एकदेशि दृष्टि में भले ही वैसे आरोप होते हों, वस्तुत: अर्थात् समरसता में यह सब कैसे पृथक् जीवित रह सकते हैं? अस्तु।। २।।

उक्त बात को विस्तारपूर्वक समझाते हैं। सुनिए–

अकर्तृत्वे जडत्वं स्यात् कर्तृत्वे द्वैतमापतेत्।
अद्वितीये स्वात्ममात्रे कर्तृताऽकर्तृते कथम् ।। ३।।

यदि आत्मा—अकर्त्ता माना जाए तब जड़ हो जाएगा। तथा कर्त्ता माना जाए तो द्वैत हो जाएगा। केवल द्वैत से रहित आत्मस्वरूप में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये कैसे रह सकते हैं? तात्पर्य यह है कि आत्मा को अकर्त्ता कहने वालों को यह पूछते हैं कि आत्मा अकर्त्ता क्यों? क्या वह कुछ कर नहीं सकता, इस कारण, या कुछ करता नहीं इस कारण? यदि यह कहो कि यह कुछ कर नहीं सकता तो इस बात को मानने के लिये कोई भी विद्वान् तैयार नहीं तथा सारे ग्रन्थ इससे विरूद्ध हैं। एवं अनुभव भी इस बात को स्वीकार नहीं करता। दूसरी बात यह भी है कि ऐसी स्थिति में उसको जड़ कहना पड़ेगा। अर्थात् वह कर नहीं सकता यह बात तो हो नहीं सकती। रह गई बात दूसरी कि कर सकता है पर करता नहीं। इसका कारण क्या? क्यों नहीं करता? इस बात का 'नहीं करता' ऐसा उत्तर तो नहीं बनता। प्रत्युत शक्ति का उपयोग ही नहीं करता, इसमें क्या प्रमाण है। अर्थात् प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से सिद्ध करने के लिये आपके पास कोई सामर्थ्य नहीं कि आप कहें कि वह नहीं करता। इस पर भी यदि ऐसा ही आग्रह से कहोगे कि ऐसा ही है कि 'नहीं करता' तो जड़ मानना पड़ेगा, कारण यह कि सम्पूर्ण विश्व भ्रमरूप से भी दिखाई न पड़ेगा*। परन्तु आप यह तो मानते ही हो कि जगत् भ्रम है, अत: दोनों प्रकार से अकर्त्ता कहने पर आत्म—स्वरूप को जड़ कहना होगा। एवं च अकर्त्ता कहना ठीक

** यदि आत्मदेव कुछ भी नहीं करे तो जगत् को भ्रमरूप में कौन प्रकट करें। अत: यह जगत् भ्रमरूप में भी तब दिखाई न पड़े। न जीव ही प्रकट होते और न जगत् ही। शेष क्या रहे, वह कौन बताए? बहुत सम्भव है कुछ भी न रहे। एक अभाव मात्र रहे। वह अभाव रूपता अवशिष्ट तत्त्व जड़ ही सिद्ध हो जाए। इस तरह से कर्तृत्व से भी और अकर्तृत्व से भी जड़ता ही सिद्ध होती है।*

नहीं। अब यदि आत्म–स्वरूप को कर्त्ता कहा जाए तो द्वैत होगा। अर्थात् यावत्–काल कर्मकारक रूपी कार्य की पृथकता न स्वीकार की जाए तावत्काल कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। अथ च ऐसी आपेक्षिक दशा* में अपूर्णता दोष आता है। इसका विवरण आगे किया जाएगा। यहां तो इतना ही समझिये कि द्वैत ही मानकर, अथ च तदनन्तर विश्व का कर्ता यदि आत्म–स्वरूप को माना जाए तो इस मत में बहुत दोष आते हैं। इस विषय में हम तीसरे प्रकरण में कह चुके हैं। अतः कर्त्ता कह नहीं सकते। द्वैत तो सिद्ध ही नहीं होता। आत्म–स्वरूप अद्वितीय केवल है, इस बात को हम दूसरे प्रकरण में सिद्ध कर चुके हैं। अतः अद्वितीय समरस आत्मा में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व का सम्बन्ध कहां हो सकता है? अर्थात् आत्म–स्वरूपाऽतिरिक्त कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व की शङ्का ही जब नहीं होती तब उसका सम्बन्ध कैसा**? तात्पर्य यह है कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों भी आत्म–विलास–मात्र हैं, दूसरी वस्तु नहीं।। ३ ।।

यद्युच्येत श्रुतावत्कः कर्तृत्वाऽभाव आत्मनः।
कर्तृत्वमपि तत्रैव प्रोक्तं तदपि दृश्यताम् ।। ४।।

यदि यह कहा जाए कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, ऐसा वेदों में लिखा है, तो वह भी देखो कि आत्मा कर्त्ता है, यह बात भी उन्हीं वेदों में लिखी है। तात्पर्य यह कि यदि ऐसा कहा जाए

** कर्त्ता में कर्म की अपेक्षा से ही कर्तृत्व आता है। अतः वह कर्तृत्व आपेक्षिक है। आपेक्षिक दूसरे के अधीन होने से अपूर्ण होता है।*

*** सम्बन्ध दो का परस्पर होता है। जब दूसरे की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती तो सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकता।*

कि वेदों में आत्मा को कर्तृत्व का अभाव लिखा है अर्थात् आत्मा कर्तृत्वाऽभाववान् है, ऐसा वेदों में लिखा है। अत: आत्मा को अकर्त्ता ही कहना चाहिये। कारण वेदों से बढ़कर अन्य कोई प्रमाण नहीं हो सकता। इस पर हम यह कहते हैं कि अरे कर्तृत्व भी तो उसी वेद में लिखा है। उसको भी देखो न। तात्पर्य यह कि यदि वेदों के प्रमाण से यह कहा जाए कि आत्मा अकर्त्ता है, तो इस पर कर्तृत्ववादी कहते हैं कि आत्मा कर्त्ता है, यह बात भी वेदों में ही लिखी है। एक को कल्पित समझना तथा अन्य को अकल्पित समझना अर्थात् वेद के कुछ अंश को प्रमाण मान लेना तथा कुछ अंश को अप्रमाण कहना, यह बात तो ठीक नहीं। यदि यह कहो कि हमने सम्पूर्ण वेदों का समन्वय करके पश्चात् इस बात को सिद्धान्तित किया है कि आत्मा अकर्त्ता है, तो दूसरे कहते हैं कि हमने भी सम्पूर्ण वेदों का समन्वय करके ही आत्मा को कर्त्ता ठहराया है। तो इस प्रकार ये दोनों वाद मिट नहीं सकते। अत: सम्पूर्ण वेदों का समन्वय करते हुए आत्माऽनुग्रह से निर्विवाद सिद्धान्त क्या है? इस बात को देखना होगा ॥ ४ ॥

अच्छा, अब हम देखेंगे, सुनिये–

ननु यद्वस्तु नास्त्येव कर्तृता तन्निरूपिता।
कुत्र वाऽऽरोप्यतामेवमकर्ताऽऽत्मेति चेत्तदा ॥ ५ ॥

यदि ऐसा कहा जाए कि जो वस्तु है ही नहीं, तन्निरूपित* कर्तृत्व का आरोप कहां किया जाएगा? बस, अतएव आत्मा

** तन्निरूपित = उसके सम्बन्ध से ठहराई हुई। जो जगत् तीनों ही कालों में कही है ही नहीं उसके सम्बन्ध से आत्मा में कर्तृत्व को ठहराया ही नहीं जा सकता, यह तात्पर्य है।*

अकर्त्ता है, तो हम इस का उत्तर भी देते हैं। तात्पर्य यह है कि अकर्तृत्व–वादी कहते हैं कि आत्मा को विश्व का कर्तृत्व आ नहीं सकता। कारण यह कि विश्व जबं कोई वस्तु हो, तब तो इसके कर्त्ता की शङ्का या उत्तर हो सकता है। अर्थात् जब विश्व कोई वस्तु ही नहीं, तब उसमें रहने वाली जो कार्यता है, फिर तन्निरूपित जो कर्तृता है, उसका आरोप कहां हो सकता है? जैसे आकाश में फूल कभी हुआ ही नहीं अर्थात् आकाश–पुष्प है ही नहीं, न उसको किसी ने देखा न सुना। तब उसको बनाने वाला कौन हो सकता है? अर्थात् आकाश–पुष्प का कर्तृत्व किसी में नहीं आ सकता। अत: यदि कोई मनुष्यादिक है भी तो भी उस मनुष्यादि को आकाश–पुष्प का कर्त्ता कहने में नहीं आता, न कहा जा सकता है। इसी प्रकार सद्–वस्तु जो आत्मा है वह अत्यन्त असत् जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता।। ५।।

यदि ऐसा ही मान लो, तो हम यह कहते हैं, सुनिये–

यथा शशविषाणस्य कर्ता केनापि नेष्यते।
जगतोऽपि तथा कर्ता नास्तीति मनुतां भवान् ।। ६ ।।

जैसे ससे के सींग के कर्त्ता को कोई भी नहीं चाहता, वैसे ही जगत् का भी कर्त्ता नहीं है, ऐसा ही आप मान लो। तात्पर्य यह कि जगत् में ससे का सींग कभी देखा सुना नहीं गया इसी कारण उसके बनाने वाले को कोई भी नहीं चाहता, अर्थात् उसका बनाने वाला भी कोई है ऐसा कोई नहीं चाहता, तात्पर्य यह कि ससे के सींग के बनाने वाले को कोई भी नहीं ढूँढता। प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि वह कोई है ही नहीं। अर्थात् उदासीन व्यक्ति को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं। जिस पदार्थ की सत्ता ही नहीं, उससे कार्य–कारण–भाव ही किसी का नहीं, तब कर्त्ता की सम्भावना कहाँ? अर्थात् उसका कर्त्ता भी ससे के सींग के समान

ही है अर्थात् वह भी है नहीं। बस हम तो आपको यही सम्मति देंगे कि इसी प्रकार जगत् का कर्ता भी असत् ऐसा ही आप मान लो। कारण, जब ससे के सींग के समान जगत् उत्पन्न ही नहीं होता, न है, न होगा, तब उसके साथ किसी का कार्य–कारण–भाव भी नहीं है, तब उसका बनाने वाला परमात्मा है, यह बात भी सिद्ध नहीं होती अर्थात् आप यह कह दो कि परमात्मा के अस्तित्व को हम नहीं मानते अर्थात् नास्तिक बन जाओ। हां इसकी सिद्धि अर्थात् परमात्म–सिद्धि कैसी होती है, इस बात को द्वितीय प्रकरण में दिखाया गया है। अस्तु ! इस प्रकार अकर्ता कहने से काम नहीं बनता, कारण यह कि इस बात को कि परमात्मा है वह कर्ता है या अकर्ता है, कुछ भी मानने पर ''मैं हूँ'', इस बात को तो मानना ही पड़ेगा। यदि यह कहा जाए, ''मैं हूँ'' परन्तु परमात्मा नहीं अर्थात् जगत् का बनाने वाला कोई नहीं तो यहां यह प्रश्न होगा कि ''मैं हूँ'' कहने वाले आप कौन हो तथा कैसे हो? एवं यहां आकर अपना जड़त्व मिटाने के लिए ''मैं चेतन–रूप हूँ'' इस बात को सिद्ध करने के लिये फिर अपने आपका पूर्णत्व स्वतन्त्रत्व आदि मानना ही पड़ेगा। तब पुन: यह क्या कि आत्म–स्वरूप अकर्त्ता है, यह नहीं बनता अर्थात्, यह बात सिद्ध नहीं होती।। ६।।

यदि ब्रवीषि विज्ञाताऽस्म्यहम्प्रत्ययगोचरः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽहमकर्तैव न संशयः ।। ७।।

यदि कहते हो कि '' मैं हूँ'' इस प्रकार 'अहम्' ज्ञान से प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला सर्वथा 'मैं वर्तमान ही हूँ', मैं नि:संशय अकर्ता ही हूँ। तात्पर्य यह कि आत्म–स्वरूप को 'है' सिद्ध करने के लिए किसी भी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। यह तो स्वयं सिद्ध है। क्योंकि 'अहम्' यह जो ज्ञान है इस ज्ञान से जो प्रत्यक्ष है अर्थात् इसका जो अनुभव करने वाला 'मैं' सर्वदा सर्व प्रकार से वर्तमान ही 'हूँ', अर्थात आत्म–सत्ता में कोई

बाधा ही नहीं। तथा जगत् तो है ही नहीं, इसलिये उस का कर्ता भी 'मैं' नहीं। अत एव आत्म–स्वरूप अकर्ता ही है इसमें कोई संशय नहीं।। ७।।

ऐसा कहो तो यह कहना ठीक नहीं। कारण–

एवं वदन् भवान् सत्यं जडात्मा नैव संशयः।
प्रत्यक्षचिन्मात्ररूपस्वात्माऽनुग्रहवञ्चितः।। ८ ।।

ऐसा कहने वाले आप सचमुच जड़–स्वरूप हैं, इसमें कोई संशय नहीं। प्रत्यक्ष चिन्मात्र–रूप अपने आत्म–स्वरूप के अनुग्रह से वञ्चित हो। तात्पर्य यह कि जो आप कह रहे हो कि " मैं आत्म–स्वरूप सर्वथा वर्तमान ही हूँ तथा अकर्ता ही हूँ" कारण, मैं कुछ करता ही नहीं। जो कुछ विश्व है यह तो भ्रम–मात्र है। अतः उसका कर्तृत्व मुझ में नहीं आता तथा 'मैं हूँ' इस बात को तो मेरा अपना निजी अनुभव है। ऐसा कहने वाले आप सचमुच कुछ भी नहीं हो। अर्थात् अत्यन्त जड़ हो, कारण, प्रत्यक्ष चिन्मात्र–रूप अपने आप आत्म–स्वरूप का अनुग्रह आप पर हुआ ही नहीं। उससे ठगे गये हो। तात्पर्य यह कि अपने आप को विज्ञान–स्वरूप मान कर कर्त्ता न मानना, इसका कारण क्या? सिवा चिन्मात्र–रूप आत्माऽनुग्रह की वञ्चना के क्या हो सकता है? कारण, विज्ञान ही जब पूर्ण विकसित होता है तब उसी को उसी का अनुभव करने वाले को कर्ता कहा जाता है*। भला विज्ञान का पूर्ण विकास आप में क्यों नहीं हुआ? न होने का कारण कुछ तो बतलाना ही

** विज्ञान जब अपने विकसित स्वरूप को स्वयमेव अपरोक्ष साक्षात्कार से जान लेता है, अर्थात् अपना स्वयं अनुभव करता है, तो वह अवश्य ही अनुभव करने वाला बनता हुआ उस अनुभव क्रिया का कर्ता होता है।*

पड़ेगा? यदि पारतन्त्र्य हो तो हम यह कहते हैं कि तुम परतन्त्र होते हुए चेतन कैसे हो सकते हो? तुम्हें पूर्ण स्वतन्त्र कैसे कहा जाए? अत: तुम जड़ हो, तभी अपने आपको कर्ता मानने से हिचकिचाते हो। ठीक है, कारण, पूर्ण–चित्–स्वरूप आत्माऽनुग्रह तुम्हें नहीं प्राप्त हुआ। अत: ऐसा ही होना ठीक है। इस बात से यह बात सिद्ध हो गई कि आत्मा को अकर्ता मानने से ठीक नहीं होता, या यों कहिये कि अकर्त्ता आत्म–स्वरूप हो ही नहीं सकता, कारण कर्तृत्व सर्वत्र पूर्ण तथा व्याप्त है। हां, यह बात पृथक् है कि कहीं विकसित है तो कहीं अविकसित है। जहां पूर्ण विकसित है, आत्म–स्वरूप तो वस्तुत: वहीं है अर्थात् आत्म–स्वरूप पूर्ण–कर्तृत्व–रूप है।। ८।।

हम अब दूसरे प्रकार से भी समझाएंगे। सुनिए–

अकर्तृत्वं पुन: किं ते कर्तृत्वाऽभाव एव चेत्।
अकर्तृत्वं न सिद्ध्येत्ते कर्तृत्वज्ञानमन्तरा।। ९।।

हम यह पूछते हैं कि आपके कथनाऽनुसार आत्म–स्वरूप अकर्ता ही मान लिया, पुनरपि आपका कहना आपके ही कथनाऽनुसार ठीक नहीं है। देखो आपका 'अकर्तृत्व' क्या है? यदि कर्तृत्वाऽभाव ही हो तो कर्तृत्व–ज्ञान के बिना आपका 'अकर्तृत्व' सिद्ध न होगा। तात्पर्य यह कि आप जो कहते हो कि आत्मस्वरूप में अकर्तृत्व है तो भला यह तो बतलाओ कि आपका वह अकर्तृत्व पुन: क्या है? अर्थात् उसका व्याख्यान करो। तब यदि यह कहोगे कि अकर्तृत्व अर्थात् कर्तृत्व का अभाव, ऐसा कहने से आपका 'अकर्तृत्व' अर्थात् आत्म–स्वरूप में अकर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा। कारण आपको कर्तृत्व का ज्ञान नहीं है। तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु है या नहीं है, दोनों बातें कहने के लिये उस वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा होती है। इनमें से एक की अपेक्षा तथा दूसरे की अनपेक्षा ऐसा कहना नहीं बनता। कारण, जैसे जिसको

घट का ज्ञान ही नहीं है उसको यदि यह कहा जाए कि अरे! जाओ उस घर में देखो कि वहां घट है कि नहीं? इस पर वह पुरुष जाकर है या नहीं इसका निर्णय नहीं बतला सकता। प्रथम तो यह बात है कि वह पुरुष उसके कहने पर उसी समय कहता है कि मैं तो 'घट क्या होता है' इस बात को ही नहीं जानता, तो ' घट है कि नहीं' मैं क्या कहूँगा? बस ऐसे ही जो आत्म–स्वरूप को ही नहीं जानता, वह कर्त्ता या अकर्त्ता यह बातें कैसे कह सकता है? या यों कहिये कि जो जगत् को ही नहीं जानता, वह क्या कह सकता है कि इसका बनाने वाला कोई है या कोई नहीं है। एवमेव किसी को अकर्त्ता ठहराने के लिये पहले, 'कर्त्ता क्या होता है' इस बात को जानना आवश्यक है। जैसे 'घट नहीं है' कहने के लिये घट–ज्ञान की पहले आवश्यकता है। जिसको घट–ज्ञान ही नहीं, वह 'यहां घट नहीं है' ऐसा नहीं कह सकता। यदि आग्रह से कहेगा तो उसकी कोई नहीं मानेगा। कारण, वह मूर्ख है। बस वैसे ही आत्मा के कर्तृत्व–ज्ञान के बिना अकर्तृत्व का ज्ञान सिद्ध ही नहीं होगा। अतः आत्मा अकर्त्ता है ऐसा जो आप कह रहे हैं यह असङ्गत है।। ९।।

कर्तृत्वज्ञानरहितोऽकर्तृत्वज्ञानवान् भवान्।
एकाङ्गविकलत्वेन गुर्वनुग्रहमर्हति ।। १० ।।

कर्तृत्व–ज्ञान से रहित अकर्तृत्व–ज्ञान वाले आप एकाङ्गविकल होने से गुरु–कृपा के योग्य हो। तात्पर्य यह कि यद्यपि कर्तृत्व–ज्ञान के बिना अकर्तृत्व–ज्ञान ही नहीं हो सकता, इस बात को जान बूझकर भी हठ से यदि कहो कि हमें कर्तृत्व–ज्ञान के बिना ही अकर्तृत्व–ज्ञान है तथा अकर्तृत्व–ज्ञानवान् हम हैं, कर्तृत्व–ज्ञान हमें नहीं। तात्पर्य यह कि हम आत्म–स्वरूप को अकर्तृत्व–ज्ञानवान् ही कहेंगे अर्थात् 'मैं जानता हूँ तथा अनुभव

करता हूँ कि 'अकर्त्ता ही मैं हूँ, कर्त्ता नहीं', ऐसा यदि हठ करेंगे तो हम आपको यह कहते हैं कि अभी आप में एक अर्थात् मुख्य अङ्ग की विकलता है। अर्थात् अभी आप मुख्य बात से ही अपूर्ण हो। अत: गुरु जी के अनुग्रह के योग्य हो। तात्पर्य यह कि अभी गुरु–कृपा आप पर नहीं हुई है। तभी ऐसा हठ कर रहे हो। अपूर्णता में निर्णय देने का अधिकार ही नहीं होता। निर्णय का अर्थ ही यह है कि अन्तिम बात, अन्तिम निश्चय। यावत्काल निचली बातें पूरी जान न ली जाएं या ऊपरली बातें वर्तमान हैं*, तो उसको निर्णय कैसे कहा जाएगा? अत: आपका हठ से अकर्ता कहना ठीक नहीं जँचता।। १०।।

कर्तृत्वज्ञानसहितोऽप्यकर्ता यदि चेद्भवान्।
पूर्णकर्ता चित्स्वरूप: साम्प्रतं भाति सुन्दर: ।। ११।।

कर्तृत्व–ज्ञान से युक्त यदि आप हैं तब तो चित्स्वरूप आप इस समय सर्वप्रकार से पूर्ण कर्त्ता सुन्दर चमक रहे हो। तात्पर्य यह है कि कर्तृत्व–ज्ञान होते हुए आप अकर्त्ता हो कर रहें, तब तो आप वर्तमान समय में चित्स्वरूप पूर्ण–कर्तृरूप से सुन्दर होकर चमक रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जब आपको कर्तृत्व–ज्ञान के साथ अकर्तृत्व–ज्ञान हो जाए, तब तीनों कालों का अनुगत निदान–भूत जो वर्तमान महाकाल है, उस रूप से अभिन्न होकर आप चित्स्वरूप होने के कारण पूर्ण–कर्तृत्व का अनुभव करते हुए सुन्दर अर्थात् परम–शिव–रूप ही चमकोगे। अनन्तर सर्वत्र

** यदि निचली बातें भी पूरी तरह से नहीं जान ली हों और जो बात जान ली हो, उससे ऊपर भी जानने योग्य अनेकों बातें और विद्यमान हों, तो निर्णय नहीं किया जा सकता। निर्णय तो तभी किया जा सकता है जब ऊपर की और नीचे की सभी बातें जान ली गई हों।*

परिपूर्णता ही परिपूर्णता आत्म–स्वरूप की विलसित होगी, या यों कहिये कि कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों के अधिष्ठान–भूत आप चित्स्वरूपता का अनुभव होने से पूर्ण–कर्त्ता हैं। अत एव अब आप बड़े सुन्दर अर्थात् परशिव–स्वरूप होकर चमक रहे हैं। बात यह है कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनों आपेक्षिक ज्ञानों के होने पर भी कोई विरोध नहीं।। ११।।

देखिये अब वह भी आपको समझाए देते हैं–

यथा कर्ताऽहमित्येतत् तथाऽकर्ताहमित्यपि।
कर्तृताऽकर्तृते हित्वा ज्ञानं ज्ञानतयाऽपृथक् ।। १२।।

जैसे ''मैं कर्त्ता हूँ'' इस प्रकार का यह ज्ञान है, वैसे ही '' मैं अकर्त्ता हूँ'', यह भी ज्ञान ही है। कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों अंशों को छोड़ कर ज्ञान–रूप से दोनों एक ही हैं। तात्पर्य यह है कि ''मैं कर्त्ता हूँ'' या ''मैं अकर्त्ता हूँ'' ये दोनों बातें ज्ञान–स्वरूप ही हैं। यद्यपि 'मैं कर्त्ता हूँ'' यह ज्ञान 'मैं अकर्त्ता हूँ'', इस ज्ञान का विरोधी है, एवमेव ''मैं अकर्त्ता हूँ'' इस ज्ञान का, ''मैं कर्त्ता हूँ'', यह ज्ञान विरोधी है। परन्तु उस ज्ञान पर उसी ज्ञान के आश्रय से भासित होने वाले कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों भाव मिटा दिये जाऐं। अर्थात् दोनों को ही ज्ञान–रूप से देखा जाए, तो ज्ञात हो जाएगा कि यह वस्तु एक ही है। जैसे घट तथा शराव, इन दोनों को यदि घटत्व तथा शरावत्व, इन दोनों भावों को छोड़ कर वस्तुत: देखा जाए तो ज्ञात हो जाएगा कि दोनों ही एक मिट्टी है। तात्पर्य यह कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों परस्पराऽलम्बी एवं परस्पर–विरोधी कल्पितमात्र भाव हैं। अत: मूल में कोई भेद नहीं हो सकता। अत एव दोनों प्रकार का जिसको ज्ञान हो तथा वह परिपूर्ण हो, अर्थात् उसे पूर्ण–विज्ञान हो चुका हो तो वह चित्स्वरूप पूर्ण–कर्त्ता, परशिव के सिवा अन्य

क्या हो सकता है? तात्पर्य यह कि स्वाभाविक विलास का पूर्ण विकास कर्तृत्व में होता है। तथा उसकी पराकाष्ठा का फल वही है जो कि उसका निदान है*। अर्थात् वह परमात्मस्वरूप ही है। अत: परशिव होना ही ठीक है।। १२।।

अब इसी बात की तरह केवल कर्तृत्व तथा केवल अकर्तृत्व मानने वालों को एक अन्य आपत्ति भी सहनी पड़ती है। तथा उसके प्रतीकार का उपाय उनके पास कोई नहीं है। सुनिये हम बता देते हैं, देखिये कैसी अभेद्य आपत्ति है–

अपूर्णत्वं प्रसज्येत स्वीकारेऽन्यतरस्य तु।
सामानाऽधिकरण्यं न प्रसिद्धयति विरूद्धयोः ।।१३।।

दो में से केवल एक को मानने से अपूर्णता आती है। अथ च परस्पर–विरोधी दो धर्मों का एकत्र रहना हो नहीं सकता। तात्पर्य यह कि '' मैं कर्त्ता हूँ'' या '' मैं अकर्त्ता हूँ'' इन दो में से एक को ही आत्मा में स्वीकार कर लिया जाए तो अपूर्णत्व दोष आएगा, तथा श्रुति स्मृति आदि सम्पूर्ण शास्त्र तथा आत्माऽनुभव तो आत्म–स्वरूप को पूर्ण ही समझता है। अर्थात् आत्म–स्वरूप परिपूर्ण है। हां, इस परिपूर्णता में न्यूनता से भी न्यूनता नहीं रहती, ऐसी अलौकिक परिपूर्णता है। अत: आत्मा को केवल कर्त्ता

** आत्मदेव का विलास इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूपों में चमकता रहता है परन्तु उसकी पूरी अभिव्यक्ति क्रिया की सीढ़ी पर उतरने पर ही हुआ करती है। इच्छा और ज्ञान में उसकी स्फुट अभिव्यक्ति नहीं होती है। उसकी परिपूर्ण अभिव्यक्ति से आत्मदेव की परमेश्वरता ही स्फुटतया प्रकट होती है। अत: उस विलास की अभिव्यक्ति का फल पूर्ण परमेश्वरता ही है जो उसका मूल कारण है। निदान मूल कारण को कहते हैं।*

मानने वाले तथा अकर्तृत्व का विरोध करने वाले तथा केवल अकर्त्ता मान कर कर्तृत्व का विरोध करने वाले दोनों ही अपूर्णतादोष से ग्रस्त होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकते। अब दूसरा दोष यह है कि कोई लोग ऐसा कहते हैं कि परमात्मा में कर्तृत्व भी है तथा अकर्तृत्व भी हैं, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, दोनों परस्पर विरोधी धर्म एकाऽधिकरणावच्छेद से तथा एकसमयाऽवच्छेद से रह नहीं सकते। अंधेरा जिस समय एवं जितने स्थान में रहता है, उतने ही स्थान में तथा उसी समय प्रकाश रह नहीं सकता। कारण दोनों परस्पर विरोधी हैं। तात्पर्य यह, जो लोग परस्पर विरोधी पदार्थ आत्म–स्वरूप में वर्तमान हैं, ऐसा कहते हैं, उनको हम पूछते हैं कि वे पदार्थ किस रूप से रहते हैं? जैसे घर के भीतर घट–पटादि परस्पर विरोधी पदार्थ रहते हैं, वैसे रहते हैं या दाडिमी–फल के भीतर दाडिमी–फल के बीजों के समान रहते हैं? यदि यह माना जाए कि घर में घट–पटादि के समान तो यह भी नहीं बनता, कारण, जब घर के भीतर घट तथा पट परस्पर पृथक ही रहते हैं, तब घर तथा घट इनमें व्याप्य–व्यापक–भाव नहीं है, आधाराऽऽधेय–भाव है। अत एव घर, घट नहीं हो सकता, एवं घट घर हो नहीं सकता। एवमेव घट तथा पट में भी परस्पर भेद है ऐसे ही घर के भीतर जितनी ही वस्तुऐं पृथक्–पृथक् रूप से दिखाई देती हैं, उन सभी वस्तुओं का घर से भेद रहेगा। भेद रहने पर एक को परिपूर्णता नहीं रह सकती अर्थात् ऐसी स्थिति में परमात्मा को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतः परमात्म–स्वरूप में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म परमात्मा से पृथक्–रूप में रह नहीं सकते। अब रह गया दूसरा उदाहरण, उसका उत्तर हम अगली कारिका में देंगे।। १३।।

ज्ञानवान् ज्ञानतो भिन्नो नास्त्येवेति तु निश्चितम्।
लेशतोऽपि न शङ्काऽत्र द्वैतस्य समुदेति हि।। १४।।

ज्ञानवान् ज्ञान से भिन्न नहीं है, यह बात तो निश्चित हो चुकी है। इसमें लेशमात्र भी द्वैत की शङ्का उत्पन्न ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि यह कहा जाए कि जैसे दाडिमी–फल में उसके बीज एक जैसे हो एकत्र रहते हैं, बस ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थ ज्ञानरूप हो कर परमात्मा के भीतर रहते हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग, बुद्बुद, वीचि आदि पानी के रूप में रहते हैं, बस ऐसे ही परमात्म–स्वरूप है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण, यहां भी द्वैत की शङ्का हो जाएगी तथा द्वैत तो वस्तु–सत् नहीं, वह तो कल्पित मात्र है, इस बात को हम दूसरे प्रकरण में कह चुके हैं। इस उदाहरण में एक बड़ा भारी दोष है, वह यह कि ज्ञानरूप सारे पदार्थ हो कर एकत्र रहते हैं। इसके अर्थ क्या? यदि वे ज्ञान–रूप हैं तो उनमें परस्पर वैलक्षण्य क्या है? वैलक्षण्य के बिना उनकी पृथक्ता नहीं ज्ञात हो सकती। यदि वैलक्षण्य है तो 'एक ज्ञान–रूप हो कर' इसके अर्थ क्या होंगे? तात्पर्य यह कि ऐसे कथन तो उन्मत्त–प्रलाप–मात्र हैं। यदि यह कहो कि जैसे घटों में परस्पर घटत्व रूपेण एकता है, इसी प्रकार हम यह कहते हैं कि ज्ञान–रूप से सारे पदार्थ एक प्रकार हो कर आत्मा में रहते हैं। इस पर हम यह कहते हैं कि फिर उनमें पार्थक्य किस बात का? इस पर यदि यह कहो कि परिमाण–कृत तथा व्यक्ति–कृत भेद है, तो हम कहते हैं कि ऐसा मान लेने पर आपका कहना असङ्गत हो जाएगा तथा कई दोष आ जाएंगे। देखिये यदि व्यक्तिशः भेद मान लिया जाए तो यह बतलाना पड़ेगा कि यह एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है कि नहीं? यदि भिन्न है तो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति में तादात्म्य–सम्बन्ध से अभाव होने के कारण जैसे अपूर्णता–दोष आएगा, वैसे ही उस पदार्थ के तथा उसका अधिष्ठान परमात्मा इन दोनों में भी भेद होने के कारण अपूर्णत्व–दोष वैसा ही बना रहेगा। परिणाम–कृत तारतत्य से भेद मानने पर भी वही दोष बना रहता है तथा उनको अर्थात् आपके मताऽनुसार परमात्मा में रहने वाले अनन्त पदार्थों में यदि विकास काल में भी समानता

मान ली जाए तो व्यवहार नहीं चल सकता तथा आत्म–स्वरूप की पूर्णता का अनुभव भी नहीं हो सकता*। अत: यह कहना भी ठीक नहीं। हमारे मत में तो ज्ञानवान् तथा ज्ञान इनका लेशमात्र भी भेद नहीं, ऐसा निश्चित हो चुका है। इस कारण, द्वैत हो ही नहीं सकता। तब द्वैत की शङ्का भी कैसे होगी, रह गई बात व्यवहार की उपपत्ति की, उस विषय में हम तो यह कहते हैं कि व्यवहार सम्पूर्ण जैसे वट–वृक्ष के बीज में सम्पूर्ण वट–वृक्ष अर्थात् शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि सभी कुछ रहता है, बस वैसे ही यह सम्पूर्ण एक परमात्मा में अवस्थित है। अत: यह न तो विशिष्टाऽद्वैत है, न विशुद्धाऽद्वैत है, न द्वैताऽद्वैत है, तब फिर द्वैत–वाद की कथा ही कहां। हां, अत एव हम यह भी कहते हैं कि यह परमात्म–स्वरूप इन सभी वादों का समरस निदान है तथा इसका उपपादन भ्रम–वाद से नहीं होता। कारण, भ्रम क्यों होता है? इसका उत्तर जब हम लेना चाहते हैं तो वे भी अर्थात् भ्रम–वाद से अद्वैत–तत्त्व को समझाने वाले भी यही कहते हैं कि बस सब का अन्तिम या आदिम स्वरूप परमात्मा की सत्ता ही है। तो फिर हम यह कहते हैं कि पहले भ्रम में डाल कर फिर उसको समझाने के लिये उसी बात को कहना जिसका कि हम प्रतिपादन इस ग्रन्थ में कर रहे हैं, क्या यह ठीक है? बात तो यह है कि भ्रम–वाद भी क्या, सम्पूर्ण वाद या विवाद सभी आत्माऽऽनन्द के लिए विकासित या विलापित किए जाते हैं। हां, अत एव हमको किसी से भी विरोध नहीं। हां, इतना बताए देते हैं कि ये सारे मार्ग दूर–दूर के हैं। अब जिधर से इच्छा आए उधर से

---

* *विकास काल में अनन्त प्रकार के वैचित्र्य की अभिव्यक्ति से ही आत्मदेव की पूर्णता प्रकट हो जाती है। अत: विकास काल में पदार्थों में समानता नहीं विचित्रता ही रहा करती है।*

ही अपने आप के पास आओ। न आओ तो भी कोई हानि नहीं तथा आओ तो कोई लाभ नहीं। कारण, आना तथा जाना या न आना तथा न जाना सभी विलास–मात्र हैं तथा यह समस्त आत्म–स्वरूप ही है। दाडिम के बीजों के समान या घट–पटादि के समान हमारे मत में किसी की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यदि घंटे में दस वेष किये जाएं तो क्या वेष करने वाला कुछ दस हो जाता है? अथवा कल्पना से ही चतुरङ्ग सेना तथा एक बड़ा साम्राज्य उत्पन्न कर लिया जाए जिसकी आज्ञा में करोड़ों राज्य हों, तथा पुनः दूसरी ही कल्पना में उन सबों को विपरीत कर अपने आपको कल्पना से ही भिखारी बना दिया जाए, तो क्या हुआ? क्या बना? एवं क्या नष्ट हुआ? कुछ भी नहीं। हां, सब कुछ भी जैसा था, वैसा ही है, एवं वैसा ही रहेगा भी, सारे खेल हो लिये। ऐसा अद्भुत आत्म–स्वरूप है। भ्रम–वादियों को भ्रम–भ्रम चिल्लाने में आनन्द आता है, पर इससे आत्म–स्वरूप की क्या हानि? अथवा क्या लाभ? तात्पर्य यह, आपेक्षिक लाभ अथवा हानि नहीं, पूर्णाऽऽनन्द तो अखण्ड ही है। बस इसी प्रकार सबों को समझ लीजिये।। १४।।

यदि यह कहो कि हम आत्म–स्वरूप का अकर्तृत्व दूसरे ही प्रकार से सिद्ध करेंगे, अच्छा, वह भी हम जानते हैं, परन्तु उसका भी खण्डन हमारे पहले दिये हुए उत्तर से ही हो जाएगा, सुनिये हम ही बता देते हैं–

कर्तृत्वाऽभाववान् नाऽयमकर्ता किं तु सोच्यते।
अकर्ता यस्य कर्ता नो विद्यते इति चेन्मतम् ।। १५।।

कर्तृत्व के अभाव से युक्त यह परमेश्वर अकर्ता नहीं, किन्तु वह इस प्रकार अकर्ता कहा जाता है कि जिसका कोई कर्ता नहीं, इस प्रकार यदि मानोगे तो तात्पर्य यह कि कर्तृत्व के अभाव से युक्त होने के कारण हम परमात्मा को अकर्ता नहीं

कहते किन्तु उस परमात्मा को उसका बनाने वाला कोई नहीं है अत: उसको अकर्ता कहते हैं यदि ऐसा मानो तो हम यह पूछते हैं कि उसका बनाने वाला नहीं है, क्यों नहीं है? क्या ऐसा मान लेने से उसकी अपूर्णता नहीं ज्ञात होती? कारण यह कि आपके मताऽनुसार इस अकर्तापद का अर्थ यही होगा कि जन्यत्वाऽभाववान्, तब हम यह पूछते हैं कि जन्यत्वाऽभाव मानने से अपूर्णता–दोष दूर हो जाएगा? अजी क्या कह रहे हो, ऐसे इधर से उधर नासमझी करने से बहुत फंस जाओगे, अत: इन बातों को छोड़ो ।। १५।।

यदि पुनरपि तुम्हारा यही हठ होगा कि जन्यत्वाऽभाववान् ही है तो फिर हम उत्तर देते हैं, एकाग्र–चित्त से सुनिये–

तदेवोत्तरमत्राऽपि कर्तृत्वज्ञानमन्तरा।
अकर्तृत्वज्ञानमेव नोदेतीति पुनर्मम ।। १६।।

वही उत्तर यहां भी है कि कर्तृत्व–ज्ञान के बिना अकर्तृत्व–ज्ञान ही नहीं हो सकता। यही तो फिर हम कहते हैं। तात्पर्य यह कि कर्तृत्वज्ञान के बिना स्थिति नहीं हो सकती। अर्थात् पहले यह ज्ञात हो जाए कि कर्त्ता क्या है एवं कर्तृत्व क्या है? पश्चात् ज्ञात हो सकता है कि अकर्तृत्व क्या है तथा अकर्ता किसे कहते हैं? अत: हम वही उत्तर पुन: यहां भी देंगे कि कर्तृत्व–ज्ञान के बिना अकर्तृत्व–ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस बात का विवरण इसी प्रकरण की नवम कारिका में किया जा चुका है। यहां थोड़ा सा दूसरे प्रकार से समझाए देते हैं। देखिये, परमेश्वर का कोई बनाने वाला नहीं है, इस बात को जानने के लिये पहले इस बात को जानना होगा कि बनाने वाला अर्थात् कर्ता कौन है तथा किसका है। यदि जगत् वस्तु कुछ है ही नहीं तो फिर बनाने वाला यह ज्ञान कैसे होगा? अथ च परमेश्वर का बनाने वाला कोई नहीं है, यह बात भी कैसे ज्ञात होगी? यदि यह कहो कि भ्रान्ति–कृत व्यवहार

लेकर भ्रान्त कर्त्ता के ज्ञान से हम कहेंगे* कि हमें परमेश्वर का कर्त्ता कोई नहीं, ऐसा ज्ञान होता है, तो हम यह कहते हैं कि आप भ्रान्ति को जो स्वीकार करते हैं क्या उसको आत्म–स्वरूप से पृथक् मानते हैं? इस पर आप यही तो कहेंगे न, कि भ्रम तो भ्रम ही है उसकी कोई सत्ता नहीं। वाह जी! ये क्या परस्पर विरोधी बातें हैं? क्या उसकी अर्थात् जगत् की भ्रान्त सत्ता भी नहीं? यदि है तो पुन: वह असत् कैसा? हमारा यह कहना थोड़ा ही है कि आप भ्रान्त सत्ता भी न मानें या जगत् को सत्य मानें। अजी! जगत् को तो सत्य अर्थात् पृथक्–रूप से सत्य हम भी नहीं मानते पर हां, हम तो भ्रान्ति भी नहीं मानते। हम तो सब कुछ आत्म–स्वरूप है, ऐसा कहते हैं। तथा आप भ्रान्ति–भ्रान्ति कह कर भ्रान्ति में ही रह कर निर्भान्त आत्म–स्वरूप का परिचय अकर्तृ–रूप से कराते हैं। जब तक आप निर्भान्त परिपूर्ण–स्वरूप न हो जाएं, तब तक यह भ्रान्ति नहीं मिट सकती। अत: आपका यह कहना अर्थात् कि हम कर्तृत्व–ज्ञान के बिना ही अकर्तृत्व–ज्ञान सम्पादन कर लेते हैं, यह वृथा ही है। अत: यहां तक के विवरण से यह सिद्ध हो गया कि आत्मा को एक–देशी रूप से कर्ता कहना या अकर्त्ता कहना, दोनों भी पूर्णरूप से ठीक नहीं। अस्तु ॥ १६॥

अब हमारा मत क्या है? इस बात को भली भांति पुन: समझाते हुए प्रकरण का उपसंहार करेंगे, सुनिये हमारा मत यह है–

** संसार का व्यवहार तो भ्रान्ति ही है। इस भ्रान्त व्यवहार में भ्रम से ही यह प्रतीत होता है कि कुम्हार आदि घड़ा आदि के कर्ता हैं। इस तरह भ्रमरूप जो कर्तृत्व का व्यवहार है, वह परब्रह्म के विषय में नहीं रहता अर्थात् परब्रह्म का कोई भी भ्रमात्मक कर्त्ता नहीं होता है।*

अस्मन्मते जडत्वं न कदाऽप्यापतति ध्रुवम्।
आत्मनः पूर्णकर्तृत्वात् स्वविलासस्वरूपिणः ।। १७।।

हमारे मत में कभी भी जड़त्व की आपत्ति नहीं आ सकती, यह निश्चय है। कारण, आत्मा आत्म–विलास–स्वरूप है, अतः पूर्ण–कर्त्ता है। तात्पर्य यह, ''केवल अकर्तृत्व मानने से अपूर्णता नहीं आ सकती* तथा जगत् कुछ है ही नहीं अर्थात् वह भ्रम–मात्र है। अतः तन्निरूपित कर्तृत्व आत्मा में आ ही नहीं सकता'' ऐसा मानने वालों को आत्माऽनुग्रह–वञ्चना से जड़त्व जो आया था, वह हमारे मत में कभी नहीं आ सकता। यह बात निश्चित हो चुकी है। कारण, हम तो आत्म–स्वरूप को पूर्ण–कर्त्ता कहते हैं। कारण, यह अपने विलास–स्वरूप से सब कुछ कर सकता है। अतः हमारे मत में कोई दोष नहीं आ सकता।। १७।।

देखिये, आत्म–स्वरूप की पूर्ण–कर्तृता सिद्ध करने के लिये कोई आपत्ति ही नहीं। सुनिये–

यस्य कल्पनया भातः कर्तृताऽकर्तृते उभे।
निराबाधा कल्पकस्य न सा किं पूर्णकर्तृता ।। १८।।

जिसकी कल्पना से कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों चमकते हैं, उस कल्पना करने वाले की, वह पूर्ण–कर्तृता अकुण्ठित क्या नहीं सिद्ध होती? तात्पर्य

** वेदान्ती कहते हैं कि परम ब्रह्म को केवल अकर्त्ता ही मानना चाहिए उसे कर्त्ता नहीं मानना चाहिए। ऐसा मानने से उसमें अपूर्णता नहीं आ सकती है। जगत् सर्वथा असत्य है। अतः जगत् के प्रति उसमें कर्तृता नहीं होती है। जो है ही नहीं उसके प्रति कर्तृता ही काहे की। ऐसा वेदान्तियों का तर्क है।*

यह कि जिसकी कल्पना—मात्र से कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनों को सत्ता, चित्ता, तथा आनन्दता मिलती है उस कल्पक की, उस पूर्ण कर्तृता में कौन सा भला बाध है? तात्पर्य यह कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों दिखाई देते हैं एवं उनमें आनन्द भी है तथा वे चमकते भी हैं, तो उनको न मानना अर्थात् उनकी कल्पित सत्ता का भी अङ्गीकार न करना, यह कैसे बनेगा? हां, हमारे मत में यह सब कल्पित ही कल्पित है। इनकी अपनी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं। तब इसको भ्रम कहना, इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं। हां, कहने से हमारी हानि भी नहीं। अब इसी बात को समझाने के लिये हमने यह कहा है कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनों के कल्पक का अर्थात् समरस अधिष्ठान का वह अर्थात् तद्रूप पूर्ण—कर्तृत्व क्या स्वयं सिद्ध नहीं है* ? पुन: इस बात को अन्य प्रमाण देने की क्या आवश्यकता है।। १८।।

जाने दो, अब देखिये हम क्या कहते हैं, सुनिये सावधान हो कर—

अत एदद् द्वयं यस्य सत्तयैव प्रकाशते।
सच्चिदानन्दस्वरूपं वदामः पूर्णकर्तृतत् ।। १९।

अत: ये दोनों जिसकी सत्ता—मात्र से प्रकाशित होते हैं उस परम तत्त्व को जो कि सच्चिदानन्द—स्वरूप है, उसको हम पूर्णकर्ता कहते हैं। तात्पर्य यह कि स्वयं सिद्ध महासत्ता—रूप परमतत्व के

** तात्पर्य यह है कि कर्तृत्व और अकर्तृत्व का सदा आभास करते रहना भी स्वयं एक असीम कर्तृत्व ही है। यही उस पूर्ण परमेश्वर की पूर्ण कर्तृता है जो स्वयंमेव सिद्ध है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।*

होने से ही, जब यह द्वय अर्थात् द्वैत अर्थात् परस्पर विरोधीभाव– मात्र प्रकाशित होते हैं, अत: वह परम तत्त्व जो कि सच्चिदानन्द का समरस एक मात्र कन्द भी है, समझाने के लिए हमने पूर्ण–कर्तृ रूप से उसका वर्णन किया है, वस्तुत: वह वाणी का या सिद्धि असिद्धि का पूर्णरूप से विषय नहीं हो सकता। कारण यह, कि सिद्धि एवं असिद्धि इनके उत्पन्न होने के पहले भी जो विराजमान है, उसको पूर्ण कर्त्ता सिद्ध किस प्रकार किया जाएगा? कारण, असिद्ध तो वह आत्म–स्वरूप हो ही नहीं सकता। तथा सिद्ध का सिद्ध भी करना कैसे हो सकता है? इस बात को दूसरे प्रकरण में कहा जा चुका है। अस्तु।। १९।।

श्रुति–स्मृति–आदि समस्त ग्रन्थों में जो परस्पर विरोध देखने में आते हैं, वे वस्तुत: विरोध नहीं हैं। उन सभी का समन्वय करने से जो फलित सिद्ध होता है वह भी सुन लीजिये–

श्रुतीनामपि सर्वासां तात्पर्यं पूर्णकर्तरि।
एकाङ्गविकले तत्र नाऽकर्तरि न कर्तरि।। २०।।

सम्पूर्ण वेदों का भी तात्पर्य पूर्ण कर्त्ता में ही है। एकाङ्गविकल, चाहे वह कर्त्ता हो, या अकर्त्ता, दोनों में से केवल आपेक्षिक एक में नहीं है। तात्पर्य यह है कि श्रुतियों में; श्रुति–शब्द, यहां पर सम्पूर्ण ग्रन्थों का उपलक्षक है, अत: ऐसा समझना कि सम्पूर्ण ग्रन्थों में जो इस विषय में विरूद्ध रूप से वर्णन मिलते हैं वे सर्व–सामञ्जस्य–समन्वय से विचार करने से सम्पूर्ण विरोध चित्र–सर्प के समान वहीं के वहीं टूट जाते हैं। तथा यह बात प्रकट हो जाती है कि सबों का तात्पर्य अर्थात् समाप्ति एक अद्वितीय पूर्ण–कर्त्ता है। कर्तृत्वाऽभावावान् अकर्त्ता में नहीं। कारण, वह एकाङ्ग से विकल है। अर्थात् अपूर्ण है। तथा अकर्तृत्वाऽभाववान् कर्त्ता में भी नहीं है। कारण, वह भी

एकाङ्ग–विकल है। अर्थात् दोनों ही अपूर्ण हैं। तथा अपूर्ण में अन्त नहीं हो सकता। यदि हठ से मान लिया जाए, तो भी शान्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वयं सिद्ध जो स्वरूप है उसी में समाप्ति हो सकती है, कल्पित में समाप्ति* नहीं हो सकती। अत: उस स्वरूप को समझाने के लिये "पूर्ण–कर्त्ता" हमने कहा है। वस्तुत: उसका कहना सुनना नहीं हो सकता।। २०।।

यदेव पूर्णं कर्तृत्वमकर्तृत्वं तदेव हि।
एतत्स्वयं भगवता प्रोक्तं तत्त्वं किरीटिने।। २१।।

जो ही पूर्ण–कर्तृत्व है वही अकर्तृत्व है यह निश्चित है। इस बात को स्वयं भगवान् ने किरीटी से कहा था। तात्पर्य यह है कि कुछ वेदान्ती जो कि वस्तुत: वेदान्ती हैं तथा उन्होंने समझाने के लिये आत्म–स्वरूप को अकर्त्ता कहा है। जैसे कि गौड़पादाचार्य, शङ्कराचार्य आदि; उन्होंने जो आत्म–स्वरूप को अकर्त्ता कहा है उसका तात्पर्य भी पूर्ण–कर्त्ता में ही है। निरपेक्ष अकर्त्तृत्व तथा पूर्ण–कर्तृत्व एक ही हैं। इस तत्त्व को भगवान् ने श्रीकृष्ण–रूप से स्वयं अर्जुन को गीता में समझाया है। तात्पर्य यह है कि बहुत से लोग गीता के तत्त्व को न समझ कर तथा आत्म–स्वरूप के अकर्तृत्व को ही समझ बैठते हैं कि ठीक है। तथा साथ साथ कर्तृत्व से घोर विरोध प्रकट करते हैं। परन्तु ऐसा करना गीता के तत्त्व को कलङ्कित करना है। जब गीता ही इस बात से नहीं बच सकती तो फिर आचार्य शङ्कर कैसे बच सकते हैं? लोग यह

** समाप्ति से यहां तात्पर्य है विश्रान्ति। सभी शंकाओं के शान्त हो जाने और तत्त्व का निश्चय हो जाने से जो कृतकृत्यता रूपी शान्ति प्राप्त होती है, उसे विश्रान्ति कहते हैं।*

नहीं समझते कि ब्रह्म को सर्व–शक्ति–स्वरूप* कहने वाले शङ्कराचार्य कर्तृत्व के विरोधी कैसे हो सकते हैं? निरपेक्ष कर्तृत्व ही तो पूर्ण कर्तृत्व है। अस्तु।। २१ ।।

अब हम यह दिखाते हैं कि पूर्ण–कर्तृता सापेक्ष नहीं है। सुनिए–

यथा सङ्ख्यातिगा सङ्ख्या परात्मन्येकरूपिणी।
कर्तृताऽकर्तृताऽस्पृष्टा तथेयं पूर्णकर्तृता ।। २२।।

जिस प्रकार सम्पूर्ण सङ्ख्याओं से अतीत या सम्पूर्ण सङ्ख्याओं में रहने वाली जो एक–रूप सङ्ख्या उसको परमात्मा में मान लिया गया है उसी प्रकार यह कर्तृत्व, और अकर्तृत्व, इनसे अस्पृष्ट पूर्ण–कर्तृता है। तात्पर्य यह कि परब्रह्म में एक–सङ्ख्या मानते हैं अर्थात् सब प्रकार से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि परब्रह्म एक है, परन्तु यह इसकी एकता दो की विरोधिनी नहीं। तात्पर्य यह है कि परमात्मा को एक है ऐसा कहने पर वह दो नहीं है, यह कहना पड़ेगा, एक दो नहीं है, ऐसा कहने पर पुनः वही अपूर्णता का झगड़ा खड़ा हो जाएगा। अतः सूक्ष्म–दृष्टि से पूर्ण–रूप से विचार करना पड़ता है कि यह बात क्या है? विचार से ज्ञात हो जाता है कि यह एक–सङ्ख्या आपेक्षिक नहीं, किन्तु पूर्णता को समझाने के लिये पूर्णता की ही द्योतक सङ्ख्याऽतीत एवं सङ्ख्या–मात्र में रहने वाली, ऐसी सङ्ख्या है। तात्पर्य यह कि कोई भी अङ्क लीजिये, उसमें एक अवश्य रहेगा। एक यदि

** ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में शंकराचार्य ने ब्रह्म को " .... सर्वज्ञ सर्वशक्ति" इत्यादि कहा है।*

न हो, तो वह सङ्ख्या ही नहीं रह सकती*। इसी प्रकार सम्पूर्ण सङ्ख्याओं का अन्त एक में ही होता है। चाहे वह न समझ में आने के कारण शून्य भले ही कहा जाए। तात्पर्य यह कि शून्य एक से पृथक् नहीं हो सकता। अर्थात् शून्य में भी तो वह एक संङ्ख्या विद्यमान है**। अत: यह भी कहना पड़ता है कि शून्य का भी अन्तिम स्वरूप एक ही है। वह शून्य विलास–रूप है तथा एक आत्म स्वरूप, शून्य तथा एक एक ही है। एक में शून्य है एवं शून्य में एक है। केवल समझाने के लिये अर्थात् उस परम तत्त्व को विलास–रूप से पूर्ण दिखाने के लिये शून्य को एक के ऊपर लगाया जाता है। अनन्तर उसको दस कहते हैं। दस का तात्पर्य यह है कि एक की शक्ति अर्थात् भीतर छिपी शक्ति इस समय प्रकट है, तथा एकत्व उस सब में अप्रकट–रूप से पूर्ण भरा हुआ है। इसी प्रकार एक अङ्क से यह ज्ञात होता है कि उसका विलास–स्वरूप अर्थात् विकसितता अर्थात् नानारूप से प्रकटता भीतर अप्रकट रूप से परिपूर्ण है तथा बाहर एक–रूप से प्रकट है। बस यही आत्म–स्वरूप है। अत एव वेदों में यह कहा है, कि परमात्मा पुनरपि दस अङ्गुल अधिक शेष ही रहता है। इसका विचार इस स्थान पर नहीं किया जाएगा, यहां तो केवल हमने

** दो संख्या में एक और एक हैं। तीन में एक, एक और एक हैं। इस तरह समस्त संख्याओं में एक अवश्य ही विद्यमान है।*

*** १० में एक शून्य है। १०० में एक और एक शून्य है। १००० में एक, एक और एक शून्य है। इस तरह शून्य भी एक संख्या से व्याप्त है।*

यह दिखाना है जहां कुछ भी न सूझता हो वहां अधिष्ठान की शेषरूप एकता ही प्रकट होती है*। तात्पर्य यह कि स्वयं सिद्ध आत्म–तत्त्व है, यह कहना ही बताता है कि एक सङ्ख्या स्वयं सिद्ध है तथा शून्य** उसका ही स्वरूप है। बस इसी प्रकार हमारे द्वारा वर्णित की हुई पूर्ण–कर्तृता है। इसमें कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों का स्पर्श तक नहीं होता। कारण यह कि जब कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व ये दोनों भाव आत्म–स्वरूप से पृथक् सत्ता ही नहीं रखते, तो इनका स्पर्श कैसे हो सकता है? कारण स्पर्शाऽस्पर्श–विचार द्वैत–दृष्टि में ही हो सकता है। परिपूर्ण अद्वैत में इनकी शङ्का ही कहां? हां, यह पूर्ण–कर्तृत्व इसी प्रकार का है कि अस्पृष्ट ही अर्थात् पूर्ण–निर्मल महा–विद्या–स्वरूप पूर्ण–स्वतन्त्र एकमेवाऽद्वितीय सच्चिदानन्द समरस है। अत: यहां कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व के बनावटी झगड़े होने पर भी पूर्ण–कर्तृत्व होने के कारण अपने आपके सर्वदा विलास का ही अनुभव होता है। अत: सम्पूर्ण वाद तथा उनकी सिद्धियां एवं असिद्धियां, चाहे वे भ्रम से भी क्यों न मान ली जाएं, सभी एक आत्म–विलास स्वरूप पूर्ण हो रहता है। अनन्तर नमक के पुतलों की समुद्र में बहुत ढूंढने पर भी जैसे प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार इस पूर्ण–कर्तृ आत्म–स्वरूप में बनावटी–पन की प्राप्ति नहीं होती। हां, यह बात अन्य है कि जभी वह आत्म–स्वरूप इच्छा करे, तभी एक दो क्या करोड़ों पदार्थों की सृष्टि कर डालता है, उनकी रखवाली भी करता है, अनन्तर उनकी कटाई भी। इसको एक अलौकिक

** तात्पर्य यह है कि जहां सारा प्रमेय जगत् विलीन हो जाता है वहां उसके मूल आधार की एकता शेष रह जाती है।*

*** शून्य से यह तात्पर्य है कि वह प्रपञ्च से शून्य शुद्ध चैतन्यमात्र अनुत्तर तत्त्व है।*

किसान ही समझ लो। किसान ही क्या, सब कुछ है, तथा कुछ भी नहीं है। सब किसी में है, तथा किसी में नहीं है। सब कुछ इसमें है, एवं कुछ भी इसमें नहीं है। बस तात्पर्य यह है कि जो कुछ कहो, वह ठीक भी है एवं त्रुटित* भी। कारण, यह परिपूर्ण आत्म—स्वरूप स्वसंवेद्य ही है।। २२।।

अब आत्म—स्वरूप से प्रार्थना करते हुए, तथा बहिर्दृष्टि से आशीर्वाद देते हुए, प्रकरण का फलित सिद्धान्त कहते हैं। सुनिये—

कृतकृत्ये नित्यतृप्ते स्वात्मारामे निरन्तरम्।
विज्ञाय पूर्णकर्तृत्वं रमध्वं पूर्णकर्तरि ।। २३।।

कृत—कृत्य नित्य—तृप्त अपने आप में सर्वदा आराम करने वाले आत्म—स्वरूप में, उसके पूर्ण—कर्तृत्व का अनुभव करके पूर्ण—कर्तृ—स्वरूप अपने आप सर्वदा रममाण होवें। तात्पर्य यह है कि इस प्रकरण का सारांश यह है कि अपने आप में क्रीड़ा करना अर्थात् रममाण होना यह प्रतिपाद्य है, तथा उसका उपाय भी इसमें बतलाया है। अपने आप का स्वभाव—भूत पूर्ण—कर्तृत्व, यावत्काल ज्ञात न हो, तावत्काल उसमें रमण हो नहीं सकता। केवल ज्ञान से भी काम नहीं बनता। किन्तु उस ज्ञान को पराकाष्ठा पर्यन्त विकसित करना होता है। अर्थात् विज्ञान—दशा—पर्यन्त पहुँचाना होता है। तथा विज्ञान जब परिपूर्ण विकसित हो जाता

** उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाए वह ठीक ही है, क्योंकि सब कुछ वही है। फिर जो कुछ भी उसके विषय में कहा जाए वह टूट भी जाता है, क्योंकि उसके विषय में वस्तुतः कुछ कहा ही नहीं जा सकता, वह तो अवाङ्मनसगोचर है।*

है, तो पूर्ण कर्तृत्व–रूप अपना आत्म–स्वरूप विज्ञात* हो जाता है। अनन्तर पूर्ण रमण होता है। अतः वह कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। अतएव वह पूर्ण आनन्द पाता है। वैसे तो आत्म–स्वरूप सर्वदा ही नित्य–तृप्त ही है। पुनरपि अपनी नित्य–तृप्ति का आनन्द लेने के लिये अर्थात् प्रकाराऽन्तर** से आनन्द लेने के लिये अपने आपको अतृप्त सा बना कर फिर तृप्ति पाता है। तात्पर्य यह है कि अपने आपको अतृप्त की भांति कल्पित करना भी एक नित्य–तृप्त का रमण–मात्र है। अत एव यह अपने आत्म–स्वरूप में ही सर्वदा तथा सर्वतो भावेन तथा सर्व–प्रकार से रममाण होता है। कारण, उसका अपना स्वभाव ही है कि पूर्ण–कर्त्ता रहना, अर्थात् कर्तृत्व के जितने ही चमत्कार उल्लासित किये जाएं, या उनके विरोधी, उन दोनों का उल्लासन करने में यह पूर्ण समर्थ है। बस इसी प्रकार अपने आपका अनुभव कर लेने पर, पश्चात् एक ही बात रहती है, क्या? कि सर्वदा अपने आप में अर्थात् अपने पूर्ण–कर्तृत्व में पूर्ण–कर्तृत्व का अनुभव लेते हुए रममाण होना। अतः जिनको अपने पूर्ण–कर्तृत्व का अनुभव विकसित–भाव से न विज्ञात हुआ हो उनको चाहिये, कि वे भी अपने पूर्ण–कर्तृत्व का अनुभव करें,

---

** मैं परिपूर्ण कर्ता हूँ इस बात को बुद्धि के स्तर पर निश्चय के तौर पर समझ लेना उस बात का ज्ञान होता है। फिर इस बात का साक्षात् अनुभव कर लेना इसका विज्ञान होता है। जैसे एक कुम्हार को अपने कुम्हार होने का ज्ञान शुरू से ही होता है और कुम्हार की कला में निष्णात बन चुकने पर उसे अपने कुम्हारपन का विज्ञान भी हो जाता है।*

*** वह प्रकारान्तर होता है उसे भुला डालकर और पुनः अभिमुखता में ले आकर उसे पहचान लेने से।*

अर्थात् " मैं पूर्ण–कर्त्ता आत्म–स्वरुप हूँ' ऐसा सदगुरु से समझ लें। अनन्तर यथेच्छा क्रीड़ा करें।। २३।।

अब प्रकरण का फल–स्वरूप सिद्धान्त–भूत अन्तिम पद्य के द्वारा तन्त्र से मङ्गलाचरण के साथ प्रकरण–समाप्ति की जाती है। सुनिये–

कुर्वन् सदैव वसुधादिशिवान्ततत्त्व–
रूपं प्रपञ्चमखिलं स्वविलासमात्रात्।
कर्तृत्वलेशरहितः खलु योऽद्वितीयः
स्वात्मा सदैव ननु राजति पूर्णकर्ता।। २४।।

सर्वदा ही पृथिवी से लेकर शिव–पर्यन्त तत्त्व–स्वरूपी सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपने विलास–मात्र से करता हुआ, कर्तृत्व के लेश से भी* रहित जो कि अद्वितीय है, ऐसा निश्चित किया हुआ अपना आत्म–स्वरूप पूर्ण–कर्त्ता सर्वदा ही निश्चित–रूप से चमक रहा है। तात्पर्य यह कि पृथिवी से लेकर शिव–पर्यन्त छत्तीस तत्त्व कल्पना–तारतम्य से करता हुआ; वस्तुतः ये सम्पूर्ण तत्त्व, जो कि सम्पूर्ण प्रपञ्च है, यह भी अपना स्वरूप ही है केवल इनको अनेक प्रकार से चमकाना अर्थात् विकसित करना यही इसका कारण है। सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह, तथा अनुग्रह, ये पांचों कृत्य क्रिया–शक्ति में अन्तर्भूत हो जाते हैं। तथा यह क्रिया–शक्ति स्थूल–रूप से क्रिया शक्ति कहलाती है। यदि इसी को

** कर्तृत्व से यहां आपेक्षिक कर्म कर्तृत्व अभिप्रेत हैं। स्वाभाविक स्वतन्त्र कर्तृत्व अभिप्रेत नहीं। वह स्वतन्त्र कर्तृत्व ही पूर्ण कर्तृत्व होता है।*

सूक्ष्म–दृष्टि से देखा जाए, तो यही ज्ञान–शक्ति–रूप हो जाती है। यदि अधिक सूक्ष्म–दृष्टि से देखा जाए, तो यही इच्छा–शक्ति दिखाई देगी*। इन तीनों का पूर्ण सामरस्य ही विलास है। तथा विलास आत्म–स्वरूप है। वस्तुत: सारा ही आत्म–स्वरूप ही है। इस मत में ''है'' 'प्रकाशित हो रहा है' तथा 'आनन्द–स्वरूप है' तथा इसी कारण करोड़ों इसके नाम हैं, तथा करोड़ों इसके रूप हैं। यह सम्पूर्ण कहना सुनना एक ही वस्तु का है। अर्थात् आत्म–विलास से अतिरिक्त की शङ्का आज पर्यन्त किसी को हुई ही नहीं, अत: उसका समाधान भी करने की कोई आवश्यकता नहीं। कारण, जो जो शङ्का होती है, वह वह किसी वस्तु की ही होती है। वस्तु अप्रकट होने से शङ्का होती है, तथा उसके प्रकट होने से वह शङ्का भी मिट जाती है। शङ्का का होना तथा मिटना यह भी आत्म–विलास ही है। यह कोई दूसरी बात नहीं। अस्तु। यह

** परमेश्वर शुद्ध असीम और परिपूर्ण प्रकाश और उसी प्रकार के विमर्श का पूर्ण सामरस्य होता है। प्रकाशरूप होता हुआ वह सदैव उसी रूप में अव्यय भाव से ठहरा रहता है, परन्तु विमर्शात्मक चैतन्य की महिमा से उस प्रकाश के भीतर चेतना जब स्पन्दन करती है तो वहां आनन्द की एक चंचल लहर की अभिव्यक्ति हो जाती है। वही आनन्द की तरङ्ग जरा विकास को प्राप्त करती हुई पंचकृत्यों को करने की इच्छा या उमङ्ग के रूप में प्रकट होती है। कुछ और विकसित होती हुई स्रष्टव्य विश्व को अन्त: प्रकाशित करती हुई ज्ञानशक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसी विश्व को बहि: प्रकट करती हुई वही लहर क्रिया शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है। परमेश्वर की वह विमर्शात्मक चेतना शक्ति ही उसकी स्वतन्त्र क्रियाशक्ति है। यह क्रिया का सूक्ष्मतर रूप है। ज्ञान सूक्ष्म रूप है और पञ्च कृत्यों की लीला अपेक्षा कृत स्थूल रूप है। जानना और चाहना भी तो दो प्रकार की क्रियाएं ही होती है। अत: इन्हें क्रिया के सूक्ष्म और सूक्ष्मतर रूप कहा गया।*

सब कुछ केवल अपने स्वरूप विलास से उपपन्न है। इतना होते हुए भी अपूर्णता को प्राप्त कराने वाला केवल, अर्थात् कल्पित कर्तृत्व लेश भर भी अर्थात् किञ्चिचन्मात्र भी यहां नहीं होता, अर्थात् कर्तृत्व के लेश से यह रहित ही है। इस का कारण हम कई बार बता चुके हैं। तात्पर्य यह है, कि कर्तृत्व कोई वस्त्वन्तर* नहीं, कि उसका शेष यहां रह सके। जो एक ही वस्तु है, तो उसका रहना या न रहना, यह शङ्का ही क्या? यदि कोई कहे कि मनुष्य में मनुष्य है कि नहीं, अर्थात् अपने आप में कोई रहता है कि नहीं, क्या यह शङ्का के योग्य बात है? बस इसी प्रकार कर्तृत्व की शङ्का या समाधान आत्म–स्वरूप में अयोग्य ही है। इस पर भी यदि कोई हठ से करे ही, तो हम यह कहेंगे कि है भी तथा नहीं भी,** इस बात का अभी तक निश्चय करा दिया गया है। कारण, जो यह आत्म–स्वरूप अद्वितीय है अर्थात् जब दूसरा कोई है ही नहीं तब इसके जैसा यही है, यही कहना होता है। अत एव यह बात भी निश्चित हो गई कि सदा ही पूर्ण–कर्तृ–स्वरूप, पूर्णनिर्मल, पूर्णस्वतन्त्र महाविद्यास्वरूप अपने आप विलास–स्वरूप यह आत्मदेव सदा ही प्रकाशमान है। इस बात को दूसरे प्रकरण की प्रथम कारिका में कहा गया है। अस्तु।। २४।।

** वह स्वयं पूर्ण कर्तृत्व ही है। अतः कर्तृत्व उससे भिन्न और उसमें रहने वाला कोई धर्म नहीं है। तो परमेश्वर और कर्तृत्व में परस्पर धर्म धर्मिभाव सम्बन्ध कोई नहीं। क्योंकि सब एक ही है। सम्बन्ध दो में परस्पर होता है। इसी विचार से उसे कर्तृत्व के लेश से अर्थात् आपेक्षिक और परिमित कर्तृत्व रूपी धर्म से रहित कहा गया।*

*** आपेक्षिक और अपूर्ण कर्तृत्व उसमें नहीं है। पूर्ण कर्तृत्व उसका स्वभाव या स्वरूप ही है। अतः किसी दृष्टि में उसमें कर्तृत्व है और किसी दृष्टि से नहीं है।*

अब प्रकरण की समाप्ति की जाती है—

पूर्णकर्तृस्वरूपेण पूर्णकर्तृस्वरूपिणः।
पूर्णकर्तृत्वस्वरूपं स्वानन्दाय निरूपितम् ॥ २५॥

पूर्ण—कर्तृस्वरूप ने पूर्ण—कर्तृस्वरूपी के पूर्ण—कर्तृत्व—स्वरूप का अपने आनन्द के लिये निरूपण किया। तात्पर्य यह कि इस प्रकरण का निरूपण अपने आत्माऽऽनन्द के लिये हुआ तथा इसका निरूपण करने वाला भी पूर्ण—कर्तृस्वरूप ही है*, तथा पूर्ण—कर्तृत्व—स्वरूप, जो कि निरूपण किया गया, वह भी पूर्ण—कर्तृ—स्वरूप का ही समरस है। तात्पर्य, कि निरूप्य, निरूपक, निरूपण, तथा उसका प्रतियोगी, तथा उद्देश अर्थात् कारण से लेकर फल—पर्यन्त एक ही एक समरस पूर्ण—कर्तृ आत्म—स्वरूप है। ऐसा अनुभव करना चाहिये। अनन्तर गुण भी तथा दोष भी सब पूर्ण गुण ही हो जाएंगे। तदनन्तर पूर्ण शान्ति प्रकट हो जाएगी, तथा अपने आपका अन्तिम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट अभिलषित पूर्ण हो जाएगा। इति॥ शिवमस्तु॥ २५॥

इति श्री—महामहिम—आचार्य—श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते
स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुद्भासिते
आत्मविलासे पूर्णकर्तृत्वस्वरूपनिरूपणं
नाम षष्ठं प्रकरणम्।

** तात्पर्य यह है कि ग्रन्थ कर्ता ने अपने पूर्ण कर्तृत्व का साक्षात् अनुभव किया है, अत एव वह अपने आप को निश्चय से पूर्ण कर्तृत्वरूप ही मानता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपने अनुभव के आधार पर प्रकट किया हुआ यह पूर्ण कर्तृत्व का निरूपण सर्वथा यथार्थ है।*

॥ श्रीः ॥

अन्तिमं प्रकरणम्

— :o: —

उपसंहारनिरूपणम्।

अब ग्रन्थकर्तृ–परिचय आदि उपसंहार कहते हैं–

वैराग्यज्ञानभक्त्याद्यनादृतस्वजगत्पथः।
वदान्यपरमाऽपारकरूणालोलसत्कुलः॥ १॥

वैराग्य, ज्ञान, भक्ति आदि से अनादृत किया है जगत् का मार्ग जिसने तथा मांगे हुए से भी अधिक देने वाले परशिव के अपार करूणा में सतृष्ण, अत एव शोभन जिसका कुल है, तात्पर्य यह कि संसार–मार्ग का जिसने अनादर किया है, कारण यह कि बहिर्दृष्टि से देखने पर संसार असार ही है। आत्म–दृष्टि से देखने पर तो संसार आत्म–स्वरूप ही ज्ञात होता है, अर्थात् पुनरपि संसार कोई पृथक् वस्तु जब रहती ही नहीं तब उसका ग्रहण या त्याग भी कुछ नहीं, हां, ब्रह्म–दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात हुआ कि

संसार प्रतिक्षण नश्यमान है, तब इसके पीछे दौड़ना वृथा ही है, अर्थात् इसको पकड़ने से हाथ क्या आएगा? कुछ भी नहीं। कारण यह कि इसकी अपनी पृथक् सत्ता ही जब कुछ नहीं, तो हाथ क्या आएगा? हां, इसका स्वरूप तो आत्मदेव ही है तथा वह तो अपने आप एक ही है, तो उसको पकड़ना, यह तो कल्पनामात्र ही है, अर्थात् वह तो कहीं छूटा ही नहीं कि उस को पकड़ा जाए। बस, अत एव संसार–पथ का जिसने अनादर किया है, अर्थात् उसका आदर नहीं किया, जैसे कि ब्रह्म–दृष्टि से मूर्ख लोग किया करते हैं*। तथा यह बात भी वैराग्य अर्थात् कल्पित सृष्टि में दोष–दर्शन होने के कारण उनको न लेने की इच्छा तथा इसी कारण उससे ज्ञान प्रकाशित हुआ। तात्पर्य यह, कि सदसद् वस्तु का विवेक हुआ। इस कारण अपने आपमें अपने आप ही आत्माऽनुसन्धानरूप भक्ति भी प्रकट हुई। तात्पर्य यह कि सर्वत्र स्वरूप का ही बिना कुछ किये कराये ही भास होने लगा। तदनन्तर एतत्फल–स्वरूप मन्त्र–जपादि भी विज्ञान में परिणत हो गया। पश्चात् यह निश्चित हो गया, कि बस सब कुछ आत्मस्वरूप है। अनन्तर इसका विज्ञान भी कुछ हो गया। ये सारी बातें उस परम दयालु परमेश्वर शम्भु की ही महिमा है। कारण, वह मांगने वालों को मांगी हुई वस्तु तो देता ही है; तथा विशेषता

** "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" कहने वाले कोई कोई अनुभव शून्य ब्रह्मवादी भी जगत् को मिथ्या कहते हैं। परन्तु वे केवल वाणी ही के द्वारा जगत् का अनादर करते हैं। व्यवहार में तो जगत् के व्यवहार से प्रभावित होते ही रहते हैं। अतः वह मूर्खों की ब्रह्मदृष्टि है। आचार्य महोदय तो समस्त विश्व को आत्मस्वरूपतया देखते हुए उसकी जगद्रूपता का अनादर करते हैं। तात्पर्य यह है कि परमार्थदृष्टि से ही इसे असत् समझते हैं। व्यवहार में इसे मिथ्या कह कर अपने आपको धोखा नहीं देते।*

यह है कि बिना मांगे ही बहुत कुछ दे देता है, अर्थात् मांगने से भी अधिक दिया करता है। अत: यह सर्वोत्कृष्ट सर्व–स्वरूप शम्भु ही सब कुछ है, तथा उसी पर – शम्भु की पार–रहित करूणा में सतृष्ण अर्थात् एकमात्र उस प्रभु की करूणा की इच्छा करने वाला, अत एव शुद्ध सदाचार–सम्पन्न जिसका कुल है। तात्पर्य यह कि शिव–शक्ति की अभेद–भक्ति जिसकी कुल–परम्परा से ही आई हुई है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के उत्तम ग्रन्थ को प्रणयन करने के लिये सामग्री स्वयं ही आ कर उपस्थित हुई। इसके लिये इस शारीरिक कल्पित जन्म में कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ा है। कारण, ये बातें कुल परम्परा से आने के कारण अनायास ही प्राप्त हुई हैं।। १।।

अन्तर्वेदिसमुद्भूतः कोऽपि विद्वदपश्चिमः।
पङ्क्तिपावनविप्राणामुत्पन्नो विदुषां कुले।। २।।

वह यह ग्रन्थकार इस शरीर से अन्तर्वेदि में उत्पन्न हुआ, अर्थात् गङ्गा तथा यमुना इन दो वेद–लोक–प्रसिद्ध पुण्यतम महानदियों के मध्य प्रदेश में इसकी उत्पत्ति हुई है, तथा यह विद्वानों में पीछे नहीं अर्थात् विद्वानों में इसकी गिनती पहले ही करने योग्य है ऐसा, पङ्क्ति–पावन विप्रों के, जो कि विद्वान विप्र हैं अर्थात् जन्म संस्कार एवं विद्या इन सभी से तथा सनातन आचार से सम्पन्न श्रोत्रिय एवं आत्माऽनुभवी ब्राह्मणों के कुल में जो उत्पन्न हुआ है।। २।।

ग्रामे हवाल इत्याख्ये शुभे काश्मीरमण्डले।
कपालमोचनात्तीर्थादुदीच्यां सार्धयोजने।। ४।।

सुन्दर काश्मीर देश में 'हवाल' नामक ग्राम में जो कि

कपाल–मोचन नामक तीर्थ से उत्तर की ओर सार्धयोजन अर्थात् साढ़े सात मील पर है, वहां – ॥ ३॥

प्रसङ्गतः समायातः काश्मीरालोकनोत्सुकः।
उवास कञ्चित् समयं स्वानन्दरसनिर्भरः॥ ४॥

प्रसङ्ग से काश्मीर देखने की उत्कण्ठा से चला आया। एवं स्वात्माऽऽनन्द के रस में निर्भर अर्थात् अपने आत्माऽऽनन्द–रस में ही परिनिष्ठित कुछ समय रहा॥ ४॥

रमण्याटव्यधिगता कुल्या यत्र विराजते।
ग्रामीणविप्रैः संसेव्या स्नानपानादिकर्मसु॥ ५॥

जिस 'हवाल' नांमक ग्राम में रमण्याटवी से निकली हुई नहर बहती है अर्थात् रम्बिआरे की नहर जहां शोभित हो रही है, जिसका उस ग्राम के ब्राह्मण नहाने पीने आदि अर्थात् सन्ध्या आदि कामों में उपयोग करते हैं॥ ५ ॥

महागणेशो यत्राऽऽस्ते बीडा भगवती च सा।
प्रकटीभूय भक्तानामनुग्रहचिकीर्षया ॥ ६॥

जहां पर अर्थात् 'हवाल' ग्राम में, महागणेश रहते हैं। तथा वह बीडा भगवती भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से प्रकट विराजमान है। तात्पर्य यह है कि उस 'हवाल' ग्राम में महागणेश का अति प्राचीन तथा इष्ट–सिद्धि–प्रद एक स्थान है तथा कोई डेढ़ सौ वर्ष पूर्व उसी ग्राम के एक ब्राह्मण भक्त के ऊपर उसकी वृद्धाऽवस्था में अनुग्रह करने की इच्छा से उस स्थान से ग्यारह मील जङ्गल में 'बेड़गिरि' नामक पर्वत पर उसकी अधिष्ठात्री देवी बीडा भगवती जिसको कि 'हंसवागीश्वरी' भी प्राचीन ग्रन्थों में कहा है, जो कि काश्मीर के मुख्य दो चार स्थानों में से

एक प्रधान स्थान है वह जिस ' हवाल' ग्राम में प्रकट हो कर विराज रही है।। ६।।

तत्रत्य ''कण्ठभट्टा'' ख्यब्राह्मणप्रार्थनाद्रुतः।
ग्रन्थमात्मविलासाख्यं जग्रन्थ सुमनोरमम्।। ७।।

उस हवाल ग्राम के रहने वाले कण्ठ भट्ट नामक एक ब्राह्मण की प्रार्थना से द्रुत होकर अर्थात् करूणा से ''आत्म-विलास'' नामक इस ग्रन्थ को, जो कि अत्यन्त सुन्दर है; अत एव सज्जनों के हृदय को आनन्द देने वाला है। सज्जनों को ही क्या; देवताओं को भी आनन्द देगा, ऐसे इस ग्रन्थ को बनाया। तात्पर्य यह कि दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न पुरुषों को यह ''आत्मविलास'' नामक ग्रन्थ अत्यन्त आनन्द देगा।। ७।।

कालकालो बालचन्द्रभालः कामप्रदो वशी।
वारणास्यप्रसूजानिः प्रीयतां परमो रसी।। ८।।

जो काल का काल है, बालचन्द्र जिसके भाल में है, जो कामनाओं को पूर्ण करने वाला है तथा जो कामदेव का नाश करने वाला है, जो स्वयं अपनी इच्छा में रहने वाला है, जो गजानन की माता का प्रिय पति है, जो कि रस-स्वरूप है, जो अत्यन्त उत्कृष्ट पर शिव है, वह प्रसन्न हो। तात्पर्य यह, कि इस ग्रन्थ से परम-महेश्वर जो कि स्वयं अपने आप में ही सर्वदा विराजमान है अर्थात् जिसकी इच्छा स्वतन्त्र* है अर्थात् दूसरा

** वह जैसा चाहता है वैसे ही सृष्टि संहार आदि कृत्य प्रकट हो जाते हैं। उसकी इच्छा के सामने न तो कहीं कोई रूकावट ही खड़ी हो सकती है और न ही किसी और साधन की ही आवश्यकता पड़ती है। एक मात्र अपनी इच्छा के बल से ही वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि आदि करता रहता है।*

कल्पित कोई इसको वश नहीं कर सकता, जो काम को भली प्रकार से नष्ट कर देने वाला है; अर्थात् कल्पित अशुद्ध* काम को जिसने आत्म–स्वरूप में अर्थात् स्वरूप–भूत महाविद्या रूप चिदग्नि में समर्पित कर दिया है। अर्थात् इसको विकारों का कभी स्पर्श नहीं हो सकता, तथाऽपि अपने कल्पित भक्तों को पूर्ण–काम करने वाला है अतएव बालचन्द्र को इसने अपने भाल में धारण किया है तथा गजानन की माता जिसको जाया है, अर्थात् आत्मशक्ति–भूत, अर्थात् आत्मस्वरूप अपनी जाया में जो पुनरपि कारण–भूत फल–स्वरूप गजानन के रूप में प्रकट होता है, अत एव गजानन को लम्बोदर कहते हैं। कारण, इसका उदर सम्पूर्ण विश्व है। तात्पर्य, नर–शक्ति–शिवात्मक** स्वयं यह आनन्द के लिये अपने आपको

** पर शिव अशुद्ध कामना अर्थात् भेदमयी कामना का और अपूर्णता के कारण प्रस्फुरित कामना का ही संहार करने वाला है। परिपूर्ण महाकाम को तो सदा विकास में लाता है। महाकाम के विलास से ही सृष्टिसंहार आदि होते रहते हैं। तभी तो उसे महा कामेश्वर कहा जाता है। इसलिए उसे अशुद्ध काम का ही विनाशक कहा गया, शुद्ध काम का नहीं।*

*** शिव परमेश्वर को और नर जीव को तथा इस जड़ जगत् को कहते हैं। शिव स्वयमेव अपनी शक्ति के ही द्वारा नर की दशा पर उतर सा आता है, और नर रूपी जीव को जब अपनी वास्तविक स्वभावभूत पारमेश्वरी शक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है तो वह मानो कि अपने खोए हुए से शिवभाव को पुनः प्राप्त कर लेता है। अपनी शक्ति की उपासना के ही द्वारा वह ऐसा कर सकता है। इस तरह से शिव और नर के बीच में ठहरा हुआ उतरने का और चढ़ने का जो मार्ग या उपाय है वह शक्ति है, ऐसा त्रिकशास्त्रों का सिद्धान्त है। तो यहां भी शिव पार्वती और गणेश का स्मरण करने के बहाने से वस्तुतः रहस्य शास्त्रों के नरशक्ति शिव रूपी त्रिक की ही वंदना की गई है। त्रिरूप में प्रकट होता हुआ भी वह वस्तुतः एक ही है।*

प्रकाशित करता है तथा पुनरपि अकेले का अकेला ही रहता है। परम कल्याण–स्वरूप यह पर शम्भु इस '' आत्म–विलास'' ग्रन्थ से सन्तुष्ट हो। बस यही प्रार्थना है।। ८।।

श्रीमद्विक्रमभूपतेरथ गते सिंहाधिपे वत्सरे
मासि श्रावणसंज्ञके सितचतुर्दश्यां भृगोर्वासरे।
विद्वद्ब्राह्मणसत्कुलोद्भववपुर्विद्वद्वरिष्ठः स्वयं
जग्रन्थाऽऽत्म–विलासमाद्यविदुषां स्वान्ते
सुधास्यन्दिनम् ।। ९।।

श्रीमान् विक्रम राजा से १९८७ गत वर्ष में श्रावण नामक महीने में शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी शुक्रवार को विद्वान ब्राह्मणों के सदाचारी कुल में जिसका शरीर उत्पन्न हुआ है तथा जो स्वयं भी विद्वानों में श्रेष्ठ है, इस ग्रन्थकार ने प्राचीन विद्वानों के या अपने पूर्वज विद्वान् पुरुषों के तथा आद्य अर्थात् प्रथम–स्वरूप अर्थात् शिव–शक्ति–साम–रस्यात्मक परम–तत्त्व के जानने वालों के हृदय में अमृत की वृष्टि करने वाले इस ''आत्मविलास'' को अर्थात् यथार्थ–नाम '' आत्मविलास'' ग्रन्थ को बनाया ।। ९।।

ॐ शिवमस्तु ॐ

ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे नवम्यां भृगुवासरे।
सिद्धियोगे सूत्तराभे खनन्दनवभूमिते।। १।।
वैक्रमेऽब्दे निर्मितेयं व्याख्या भाषामयी शुभा।
स्वोपज्ञात्मविलास्य सुन्दरीत्यन्विताऽभिधा।।२।।

कथिता ग्रन्थकर्त्रैव स्वयमेव यथा तथा
लब्भुरामेण लिखिता भवताद् भवतुष्टये।।३।।

इति श्री–महामहिम–आचार्य–श्रीमदमृतवाग्भवसमुल्लासिते
स्वोपज्ञ 'सुन्दरी' इत्याख्यराष्ट्रभाषाव्याख्यासमुद्भासिते
आत्मविलासे ग्रन्थकर्तृ–
परिचयाद्युपसंहार–निरूपणं
नामाऽन्तिमं प्रकरणम्।

—— :०: ——

आत्म—विलासः

पारिभाषिक शब्दकोषः

अ — अनुत्तर, परमशिव।

अकल — वह प्राणी जो अपने आप को असीम, शुद्ध और परिपूर्ण तथा अद्वैत परा संवित् ही समझता हो तथा जिसे भेद का जरा भर भी आभास नहीं होता हो। ऐसे प्राणी शिवतत्त्व में या शक्ति तत्त्व में ही होते हैं।

अक्रम — नियतक्रम का अभाव। क्रिया के व्यवहार में क्रम नियत होता है, परन्तु ज्ञान के व्यवहार में ऐसा नहीं होता। इस कारण ज्ञानोपाय को अक्रम कहते हैं।

अणु — सिद्धों की परिभाषा में अणु जीव को कहते हैं। अणु कहने का अभिप्राय यह है कि वह अपने आप को सर्वव्यापक न समझता हुआ सीमित ही समझता रहता है।

अणुत्व — जीव की सीमितता।

अनुग्रह — परमेश्वर की वह पारमेश्वरी लीला जिसके प्रभाव से जीव को मोक्ष की इच्छा, तत्त्व की जिज्ञासा, मोक्ष—शास्त्र में प्रवृत्ति तथा सद्गुरु की शरण में जाने की इच्छा होती है।

अनुत्तर — छत्तीस तत्त्वों से उत्तीर्ण, छत्तीस तत्त्वों का एकमात्र आधार तथा उनके उदय और लय को करने वाला परिपूर्ण परमेश्वर। वह सदा विश्व से परिपूर्ण भी रहता है और विश्व का अवभास भी वही अपनी इच्छा के अनुसार करता रहता है। यह सब कुछ करता हुआ भी अपनी एक मात्र शुद्ध संविद्रूपता से ज़रा भर भी च्युत नहीं होता।

अनिर्वचनीय– जिसके स्वरूप की पूरी तरह से व्याख्या न की जा सके। सिद्धजनों के शास्त्रों में एकमात्र परमेश्वर को और उसकी परमेश्वरता को ही अनिर्वचनीय माना गया है, माया, अविद्या आदि को नहीं।

अपरोक्ष — ऐसा साक्षात्कारात्मक ज्ञान जो इन्द्रियों से नहीं होता है, अतः जिसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। साक्षात्कार होता हुआ वह परोक्ष भी नहीं होता है। अतः उसे अपरोक्ष–साक्षात्कार कहा जाता है। आत्मा का ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, क्योंकि वहां आत्मा ही आत्मा को ही आत्मा से ही जानता है।

अप्रयोजक — वह वस्तु जो किसी वस्तु का वास्तविक हेतु नहीं बन सकता हो।

अभ्युपेत्यवाद– प्रतिवादी के मत में दोष दिखाने के लिए क्षणभर के लिए उसे मान लेना और मानकर ही उसमें आगे दोष दिखाना। इसे न्याय–शास्त्र में अभ्युपगम–सिद्धान्त कहा गया है।

अविद्या — वह ज्ञान जिससे जगत् का प्रकाश होता है। व्यावहारिक ज्ञान। अपूर्ण ज्ञान।

अशुद्धविद्यातत्त्व — जीव की सङ्कुचित ज्ञान शक्ति। उसके द्वारा वह किसी किसी ही विषय को जान सकता है, सब कुछ जान नहीं सकता। जीव का इस प्रकार का ज्ञान–शक्ति–सङ्कोच।

अहङ्कार तत्त्व — सङ्कुचित अभिमान। सङ्कुचित अहन्ता का प्रकाश, जड़ देह आदि के विषय में अहंता का आभास। अपने आप को सङ्कुचित अहं समझना। यह इसका अन्तर्मुख रूप होता है। बहिर्मुखी अवस्था में अहङ्कार ही चित्त बन जाता है, ऐसा सिद्धों का मत है। यह एक ही अन्तकरण प्रमाता की ओर मुख करता हुआ अहङ्कार होता है और प्रमेय की ओर देखता हुआ चित्त होता है।

अहम्महोरूप — शुद्ध संवित् स्वरूप अहं के अर्थात् अपने आपके चैतन्यात्मक प्रकाश का स्वरूप। शुद्ध, असीम और परिपूर्ण अहन्ता का विमर्शात्मक प्रकाश।

अहम्महो विलास— शुद्ध, असीम और परिपूर्ण अहमात्मक चैतन्य के स्वभाव – भूत परम ऐश्वर्य की लीला। परमेश्वर की परमेश्वरता – मयी लीला।

आणवमल — परमशिव अपने आप को जीव रूप में प्रकट करने के लिए अपने स्वरूप में सङ्कोच को प्रकट करता है। यह स्वरूप सङ्कोच आणवमल कहलाता है। उसके कारण वह एक ओर से अपने ऐश्वर्य

को भुला डाल कर अपने आपको ऐश्वर्य–हीन प्रकाश ही समझता हुआ विज्ञानाकल दशा पर उतर आता है और दूसरी ओर से अपनी प्रकाशात्मकता को भुला डालकर जड़रूप शरीर आदि को ही अपना आप समझता हुआ सकल नामक जीव की दशा पर उतर आता है।

आत्म तत्त्व – (वर्ग)– पृथ्वी तत्त्व से लेकर माया तत्त्व तक का सारा जड़ तत्त्वों का समूह त्रितत्त्व कल्पना में आत्म–तत्त्व कहलाता है।

आरोप – कल्पना से किसी वस्तु को किसी वस्तु पर चढ़ाना। किसी वस्तु पर किसी अन्य वस्तु की कल्पना।

इच्छा शक्ति – परमेश्वर की वह शक्ति जिसके आवेश से और जिसके द्वारा वह सृष्टि संहार आदि को प्रकट करने में प्रवृत्त हो जाता है। यह इच्छा ही परमेश्वर की परमेश्वरता है। यह इच्छा किसी अप्राप्त विषय को प्राप्त करने की अभिलाषा न होकर अपनी शक्तियों को अभिव्यक्त करने के प्रति एक दिव्यातिदिव्य उमंग होती है।

ईश्वर तत्त्व – पारमेश्वरी लीला के विलास के विकास की वह दशा जिसमें शुद्ध चैतन्य असीम प्रमाता के भीतर सामान्य एकाकार प्रमेय तत्त्व का स्फुट आभास होकर ऐसा विमर्श होता है कि " यह मैं हूँ" " यह" से प्रमेय तत्त्व और "मैं" से प्रमातृ तत्त्व का आभास होता है। यह दशा भेदाभेद की वह दशा होती है जिसमें अभेद के भीतर भेद का स्फुट अवभास हो जाता है।

ओत — व्याप्त। व्यापक। वह आधार भूत एक वस्तु जिसमें अनेकों पदार्थ मानों गूंथे हुए हों।

ओत प्रोत — वह तत्त्व जो सभी पदार्थों के भीतर व्यापक भाव में ठहरा हो और जिसके भीतर सभी पदार्थ व्याप्य बनकर ठहरे हों।

कलातत्त्व — जीव की क्रिया शक्ति का सङ्कोच। जीव की सङ्कुचित क्रिया शक्ति। इसके कारण वह किसी ही वस्तु को कर सकता है, सब कुछ नहीं कर सकता।

काम्यकर्म — किसी स्वर्ग आदि फल की कामना से किए जाने वाले अग्निहोत्र आदि कर्म।

कार्ममल — प्रेरकरूप से समस्त क्रियाओं का वास्तविक करने वाला विश्वकर्ता या पूर्णकर्ता स्वयं परमेश्वर ही है। परन्तु उसी की लीला के विलास से जीव को यह अभिमान हुआ करता है कि मैं ही कर्मों को करता हूँ। साथ ही उसे उन कर्मों की वासना भी संस्कार रूप से रहती है। वही उसे उनका फल भोगने के लिए जन्म–मरण के चक्कर में घुमाती रहती है। जीव का यह कर्मों का अभिमान और उसकी यह कर्मवासना उसका कार्ममल कहलाते हैं।

कालतत्त्व — यह जीव के स्वरूप का वह सङ्कोच होता है जिसके प्रभाव से वह वस्तुत: असीम होता हुआ भी अपने को इस प्रकार से सीमित रूप में जानता है कि मैं था, मैं हूँ और मैं होऊंगा। आत्मा वस्तुत: असीम, एक रूप और क्रमरहित तत्त्व है। परन्तु जीव अपने को मैं था, मैं हूँ, मैं होऊंगा,

इस तरह से क्रमरूपतया ही जानता है। इस क्रमिकता के आभास का कारण कालतत्त्व होता है, अथवा यह क्रमिकता का आभास ही स्वयं काल तत्त्व है।

कृत्य – पारमेश्वरी लीला की विलासमयी क्रियाएँ।

कृत्यत्रय – सृष्टि, स्थिति और संहार की लीलाएं।

कृत्यपञ्चक – सृष्टि, स्थिति और संहार, पिधान (स्वरूप गोपन) और अनुग्रह (स्वरूप प्रकाशन) ये पांच पारमेश्वरी लीलाएं।

क्रम – एक के पश्चात् दूसरे का, उसके पश्चात् तीसरे का और इसी तरह से आगे–आगे चलने वाला आभास। क्रम रूपता क्रिया–शक्ति के व्यापार में प्रकट होती है। वहां वस्तुओं का या घटनाओं का क्रम नियत होता है। अतः क्रम क्रिया–शक्ति के व्यवहार को भी कहते हैं।

क्रियाशक्ति – परमेश्वर की वह शक्ति जिसके द्वारा प्रमेय तत्त्व का स्फुट आभास प्रमाता के भीतर हो जाता है। यह शक्ति–तत्त्व में अभिव्यक्त होकर आगे विश्वविकास के क्रम में अधिक विकसित होती जाती है।

चतुर्विध वाणी – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप चार प्रकार की वाणी।

जाग्रत् – वह अवस्था जिसमें प्राणी बाह्य इन्द्रियों और अन्तःकरणों से स्थूल विषयों के साथ व्यवहार कर सकते हैं। यह सारा दृश्यमान विश्व जाग्रत् संसार है।

ज्ञान (१) – जानना। आभास। वस्तु का या अपने आपका प्रकट हो जाना।

ज्ञान (२) – वस्तु का यथार्थ बोध।

ज्ञान (३) – वस्तु को बुद्धि के स्तर पर केवल जान लेना।

ज्ञानशक्ति – वस्तु को आभासित करने की शक्ति। परमेश्वर की वह शक्ति जिसके द्वारा उसी के भीतर इस स्त्रष्टव्य जगत् के सामान्य आकार का धीमा सा आभास होने लगता है। और ऐसा विमर्श होता है कि " मैं यह हूँ" अर्थात् प्रामातृरूप मैं ही यह प्रमेय रूप जगत् हूँ। इस शक्ति की अभिव्यक्ति सदाशिव दशा में होती है। वहां शुद्ध, असीम और परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप " अहं" के भीतर स्त्रष्टव्य जगत् का धीमा सा आभास "इदं" के रूप में होने लगता है।

तन्त्र – शास्त्र विशेष, जिन्हें भगवान् शिव ने या देवी ने कहा है। निचले दर्जे के तन्त्र भगवान् विष्णु के द्वारा कहे हुए पांचरात्र तन्त्र हैं।

तन्त्र से – दो दो अर्थों वाले शब्दों से किसी बात को कहते हुए ही किसी अन्य रहस्यमय सिद्धान्त को भी साथ ही कह देना तन्त्र से कह देना होता है।

तन्त्र का लक्षण – नानाफलक–समानाकारक–नैकव्यापाराणां मध्य एकेनैव व्यापारेणानेक–फलोत्पादनं तन्त्रम्।

अर्थ – नाना प्रकार के फलों को देने वाली तथा समान आकारों वाली अनेकों क्रियाओं में से किसी एक ही क्रिया के द्वारा अनेकों फलों को सिद्ध कर देना तन्त्र से करना होता है।

तुरीयतत्त्व (१) – प्रकाश विमर्शात्मक सामरस्यस्वरूप शुद्ध चैतन्यतत्त्व। यह तत्त्व सदैव आत्म–आनन्द की अनुभूति से सना रहता है। इस तत्त्व में आत्मदेव स्वयं अपने ही आप का सदा विमर्श करता रहता है। यह तत्त्व असीम, एकमात्र, अव्यय और परिपूर्ण शुद्ध संवित् ही होता है।

तुरीयतत्त्व (२) – तीनों तत्त्व वर्गों के व्यापक तत्त्व को तुरीय तत्त्व कहते हैं। वह तत्त्व परिपूर्ण परमेश्वर ही होता है। तीनों तत्त्व–वर्गों का उदय और लय उसी में हुआ करता है। वह सैंतीसवां परमशिव तत्त्व होता है। उसे तीन तत्त्व वर्गों की समष्टि भी माना जाता है।

तुर्या – शुद्ध ज्ञानमयी अवस्था। यह अवस्था शुद्ध–चैतन्यमयी और आनन्दमयी अवस्था होती है। इस अवस्था में आत्मा को अपने स्वभावभूत ऐश्वर्य की साक्षात् अनुभूति हुआ करती है। जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं के भीतर भी चैतन्य–रूपता से यह अवस्था ओतप्रोत भाव से विद्यमान रहती है। विज्ञानाकल से लेकर अकल तक सभी प्राणी तुर्या में ठहरते हैं।

तुर्यातीत – तुर्या से भी परे ठहरने वाला अपरिमित, शुद्ध और परिपूर्ण आनन्दघन चैतन्य। स्वयं परशिवरूपी परमेश्वर ही तुर्यातीत पद होता है।

त्रिपुटी – प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीन पदार्थ।

दुर्जन तोषन्याय – आग्रह करने वाले प्रतिवादी को प्रसन्न करने के लिए क्षणभर के लिए उसके मत को मान लेना

और मानकर आगे उसके भीतर दोषों को प्रकट कर देना।

द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति– जिस बात को दूसरी बार भी सिद्ध कर दिया जाए, उसकी सिद्धि सर्वथा संशयरहित बनकर पक्की हो जाती है– इस विचार से किसी सिद्धान्त को पुनः सिद्ध करने की नीति।

द्वैतवाद – वह वाद जिसके अनुसार ईश्वर, जीव और जगत् तीन भिन्न–भिन्न और स्वतन्त्र पदार्थ हैं। एक से अधिक नित्यसत्य तत्त्वों को मानने वाला वाद।

द्वैताद्वैतवाद – वह वाद जो ईश्वर और जीव आदि में अंशतः द्वैत को और अंशतः अद्वैत को मानता है। जैसे अनार और उसके दाने परस्पर भिन्न भी हैं और एक भी हैं, उसी तरह ईश्वर और संसार के परस्पर भेद के होते हुए भी दोनों एक ही हैं; ऐसा वाद।

धर्म(१) – विहित कर्म। वेद, आगम आदि द्वारा उपदिष्ट कर्म।

धर्म(२) – विशेषता, गुण, क्रिया आदि। जैसे गीलापन पानी की विशेषता है। अतः पानी धर्मी है और गीलापन उसका धर्म है।

ध्वनितार्थ – व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा कहा हुआ अर्थ। व्यंग्यार्थ।

निग्रह – परमेश्वर की स्वरूप को भुला डालने या छिपा देने की लीला। इसे पिधान–कृत्य भी कहते हैं। परमेश्वर के पञ्च कृत्यों में यह एक विशेष कृत्य होता है।

नित्यकर्म – वह कर्म जिसके न करने से मनुष्य प्रायश्चित्त का भागी बनता है। सन्ध्यावन्दन आदि अवश्यकर्त्तव्य कर्म।

निदिध्यासन – दृढ़तर ज्ञान योग। एकमात्र पर–ब्रह्म की अद्वैत सत्ता के संस्कार को अपने ऊपर पक्का करने का अभ्यास।

नियति–तत्त्व – संसार में कार्यकारण–भाव को ठहराने वाला अटल नियम। इस तत्त्व के प्रभाव से हम लोगों के ज्ञान सामर्थ्य में और क्रिया–सामर्थ्य में तरह–तरह की रूकावटें आती रहती हैं। प्राकृतिक नियम।

निराशंस – वह शुद्ध चैतन्य तत्त्व जिसे किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा हो ही नहीं सकती क्योंकि उसमें अपूर्णमन्यता नहीं होती है। वह सर्वथा परिपूर्ण है, वह आशंसा रहित है।

नैमित्तिककर्म – वे कर्म जिन्हें किसी निमित्त के कारण करना पड़ता है। जैसे घर में पुत्र उत्पन्न होने के कारण उसका जातकर्म, नामकरण आदि करना पड़ता है।

पञ्चकृत्य – पारमेश्वरी लीला के पांच अङ्ग।

परमेश्वर की पांच प्रकार की लीलाएं–

(१) सृष्टि, (२) स्थिति, (३) संहार (४) पिधान या निग्रह और (५) अनुग्रह।

पति (प्रमाता) – समस्त विश्व को अपना आप ही समझने वाला, अभेदभाव या भेदाभेद–भाव पर ठहरा हुआ प्रमाता।

पर–प्रकाश – परिपूर्ण, असीम और शुद्ध चेतना का वह आभास

जिससे वह चेतना स्वयमेव सदा अभिव्यक्त होती रहती है।

पर–ब्रह्म – परिपूर्ण परमेश्वर। बृहत् अर्थात् असीम और सर्वव्यापक चैतन्यात्मक प्रकाश जो इस समस्त जगत् का बृंहक अ़र्थात् विकासक है।

परमशिव – परमेश्वर। वह पर–तत्त्व जिसकी लीला के विलास से छत्तीसों तत्त्वों का और उनसे बने हुए समस्त ब्रह्माण्डों का उदय और लय जिसके भीतर हुआ करता है।

पर–शिव – परम–शिव।

परा–वाणी – अभेदात्मक पूर्ण अहं–विमर्श ही जिसका स्वरूप है वह वाणी।

परा–संवित – पारमेश्वरी संवित्। परमशिव, परमेश्वरात्मक परिपूर्ण संवित्।

परिणाम – स्वरूप परिवर्तन। स्वरूप में आने वाला विकार।

परिणामवाद – सांख्य योग आदि शास्त्रों का वह सिद्धान्त जिस के अनुसार मूल–प्रकृति तत्त्व में स्वरूप परिवर्तन के आ जाने से यह संसार क्रम से प्रकट हो जाते हैं।

परिपूर्ण – जो सर्वथा, सर्वत: और सर्वदा प्रत्येक पदार्थ से भरा रहता है। जो कुछ भी जब कभी भी प्रकट होता है वह सब कुछ जिसके भीतर सदैव तद्रूप होकर ही विद्यमान रहता है। समस्त विश्व के प्रत्येक पदार्थ को सत्ता देने वाला विश्व का पूरक तत्त्व, परमशिव ही परिपूर्ण होता है।

परोक्ष — वह वस्तु जिसका साक्षात् अनुभव न होने के कारण जिसे शब्द या अनुमान आदि के द्वारा ही जाना जाता हो।

पशु — कर्मपाश में बंधा हुआ प्राणी। शरीर आदि को ही अपना आप समझने वाला प्राणी। केवल बाह्य आकार देखने वाला और भीतरी तत्त्व को न समझने वाला प्राणी। जीव।

पशुपति — सृष्टि आदि पांच कृत्यों के द्वारा जीवों का और उनके जगत् का पालन करने वाला परमेश्वर। कर्मबन्धन में बन्धे हुए पशुप्राणियों को अनुग्रह द्वारा ज्ञान देकर उन्हें बन्धन से छुड़ाने वाला उनका पालक परमेश्वर।

पश्यन्ती वाणी — भेदाभेदमय विमर्श। वह विमर्श जिसमें समस्त भेद के भीतर भी एक अभेदभाव का अनुभव होता है। इस विमर्श में पदों औरं अर्थों का कोई क्रम नहीं होता। इससे एक साथ ही ऐसा अनुभव हो जाता है कि यह सब कुछ मैं ही हूँ।

पारमार्थिक सत्ता — वह सत्ता जो सततोदित ही रहती हो तथा जिसके आपेक्षिक उदय और लय नहीं होते हों। वह सत्ता एक—मात्र परमेश्वर की ही होती है।

पिधान — स्वरूप को ढक लेने की पारमेश्वरी लीला। निग्रह कृत्य।

पुरुष — जीव। मायीय प्रमाता। सांसारिक प्राणी।

पूर्ण—शिवभाव— वह शुद्ध संविद्रूपता जिसमें ऐश्वर्य की किसी प्रकार की भी न्यूनता नहीं, जिस में ही सब कुछ है, जो सबमें ओत—प्रोत भाव से ठहरती है और जिसके विलास से यह सब कुछ है।

पूर्णस्वातन्त्र्य — वह निरपेक्षता जिसमें किसी भी प्रकार की कोई भी न्यूनता नहीं। सब कुछ जान सकने और कर सकने की पारमेश्वरी स्वभावभूत शक्ति।

पूर्णाहन्ता — वह अहम्भाव जिसमें कोई न्यूनता नहीं और जिससे सब कुछ अपना आप ही अनुभव में आता है।

पूर्णाहन्ता–विमर्श — अपने सर्वव्यापक, सर्वात्मक और परिपूर्ण अहम्भाव की साक्षात् प्रतीति।

प्रकाश — चेतना की वह विशेषता जिससे एक तो उसका अपना आप स्वयमेव अभिव्यक्त होता रहता है और साथ ही बुद्धि में पड़े हुए बाह्य और आभ्यन्तर विषयों के प्रतिबिम्ब भी व्यक्त होते रहते हैं।

प्रकृति — वह जड़ तत्त्व जिसमें विकार आने से तेईस तत्त्वों का बना हुआ यह सारा ही विश्व क्रम से प्रकट हो जाता है।

प्रत्यक्ष — इन्द्रियों और मन के द्वारा साक्षात् होने वाला अनुभव। प्रत्यक्ष अनुभव से जाने हुए पदार्थों को भी प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा — भुला डाले हुए अपने परिपूर्ण और शुद्ध संविदात्मक वास्तविक स्वरूप को पुनः पहचान लेना। यह ज्ञान होना कि मैं तो स्वयं परमेश्वर ही हूँ।

प्रलयाकल (प्राणी) — अपवेद्य सुषुप्ति में या सवेद्य सुषुप्ति में ठहरे हुए

प्राणी। ये प्राणी शून्यप्राय अवस्था में तब तक पड़े रहते हैं, जब तक आगामी प्रलय के काल के अनन्तर नई सृष्टि के समय प्रकृति–तत्त्व में पुन: क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षोभ के अनन्तर नई सृष्टि में ये प्राय: पुन: संसृति में आ जाते हैं। शून्यवादी बौद्ध, न्याय वैशेषिक के अपवर्ग में ठहरे हुए प्राणी और कोई कोई कैवल्य भागी तथा कोई अजातवादी भी प्रलयाकल दशा में ही पड़े रहते हैं।

प्रातिभासिक सत्ता– वह सत्ता जो वस्तुत: है ही नहीं, परन्तु फिर भी जिस का आभास मात्र होता हो, जैसे स्वप्न में देखे हुए पदार्थों की सत्ता।

प्रोत – पिरोया सा हुआ। व्याप्त हुआ। समस्त संसार परमेश्वर में प्रोत है, क्योंकि उसी में ठहरा रहता है। वही इसका आधार है।

बुद्धितत्त्व – वस्तु के विषय में नाम और रूप का निश्चय करने का साधन बना हुआ जीव का एक अन्त:करण। मन इसी का बहिर्मुख स्वरूप होता है। इस एक ही अन्त: करण को विषय की ओर उन्मुख होते रहने पर मन कहते हैं और साक्षी बने हुए जीव की ओर उन्मुख होते रहने पर बुद्धि कहते हैं, ऐसा भी सिद्धों का मत है।

ब्रह्म – बृहत् अर्थात् बड़ा, सर्वव्यापक, असीम, देश, काल और आकार की सीमाओं में न बन्धा हुआ तत्त्व। बृहंक अर्थात् समस्त विश्व को विकास में लाने वाला अत: परम–ऐश्वर्य रूपी स्वभाव वाला तत्त्व। परमेश्वर।

ब्रह्मनिष्ठ — ब्रह्मभाव के अनुभव से युक्त और अपने आप को परिपूर्ण ब्रह्म ही समझने वाला अनुभवी महापुरुष ।

भैरव — (१) स्वयं परिपूर्ण शिव। (२) परिपूर्ण परमेश्वर भाव के अनुभव पर ठहरा हुआ और सर्वथा अभेदभाव का अनुभव करते रहने वाला दिव्यदेहधारी अधिकारी पुरुष (३) एक आधिदैविक आकार।

भैरवी — पराशक्ति। परमेश्वर की परमेश्वरता।

भ्रम — धोखा। वस्तु का अयथार्थ ज्ञान।

भ्रमवाद — वस्तुत: केवल ब्रह्म ही है और वह शुद्ध चैतन्य ही है। भ्रम के ही कारण प्राणियों को उसके विषय में जीवरूपता, जगद्रूपता और ईश्वर–रूपता का भ्रमात्मक ज्ञान होता रहता है, ऐसा अद्वैत वेदान्त का मत।

मध्यमा वाणी — वह वाणी जिसे मन ही के द्वारा सोचा समझा जा सकता है। सोच समझ की, संकल्प विकल्पों की तथा स्वप्न संसार की वाणी। यह वाणी भी वैखरी की तरह भेदप्रधान होती है, इसमें भी शब्दों का नियत क्रम होता है, परन्तु यह वाणी सूक्ष्म और विचारात्मक ही होती है, स्थूल ध्वन्यात्मक नहीं होती।

मनन — (१) शास्त्र के तात्पर्य पर विचार करना। (२) भागत्याग लक्षणा के द्वारा उपनिषदों के महावाक्यों के अर्थ पर विचार करने का अभ्यास।

मन्त्र (प्राणी) — महामाया में ठहरे हुए प्राणी। वे प्राणी जो अपने आप को ऐश्वर्यवान् और प्रकाशात्मक तो समझते रहते हैं, परन्तु फिर भी संसार को अपने से भिन्न ही मानते रहते हैं। इन्हें अपने स्वरूप के विषय में कोई अज्ञान नहीं होता है, परन्तु फिर भी भेदमयी दृष्टि इन्हें घेर कर रखती है। इन्हें विद्येश्वर भी कहते हैं क्योंकि ये निचले स्तर की शुद्ध विद्या पर ठहरते रहते हैं। उसी शुद्ध विद्या को महामाया कहते हैं।

मन्त्रमहेश्वर — शुद्ध विद्या के ऊंचे स्तर पर सदाशिव तत्त्व में ठहरे हुए प्राणी। इन्हें अपनी शुद्ध और असीम संवित के भीतर सामान्याकार प्रमेय तत्व का धीमा सा आभास " अहम् इदम्" अर्थात् "मैं ही यह हूँ" इस प्रकार से होता रहता है। इस आभास में प्राधान्य प्रामातृ अंश का ही रहता है।

मन्त्रेश्वर — शुद्ध विद्या के मध्यम स्तर पर ईश्वर तत्त्व में ठहरे हुए प्राणी। इन्हें अपने शुद्ध प्रमातृतत्व के भीतर सामान्याकार प्रमेय तत्त्व का स्फुट आभास होता रहता है और उस आभास में प्रमेय अंश की ही प्रधानता रहती है। वह आभास "इदम् अहम्" अर्थात् " यह मैं हूँ" इस प्रकार से होता है।

मल — आत्मतत्त्व के आवरक ज्ञानसंकोचात्मक अज्ञान को मल कहते हैं। यह मल सृष्टि के क्रम में सूक्ष्म से स्थूल, स्थूलतर आदि बनता हुआ शुद्ध संवित् की संवित् स्वरूपता को ढककर उसे जीव

और जगत् के रूप में प्रकट करता है। इस मल की कलना स्वयं परमेश्वर ही अपनी पारमेश्वरी लीला के विलास से करता है। अत: व्यवहार में यह मल होता हुआ भी मूलत: स्वविलास का उल्लास ही होता है।

मलत्रय — मल को उत्तरोत्तर विकास की भूमिकाओं में आणव, मायीय और कार्म नाम पड़ जाते हैं। मल के वह तीन प्रकार या उसकी वह तीन अवस्थाएं मलत्रय कहलाती हैं।

महत्तत्त्व — प्रकृतितत्त्व के पहले परिणाम को महत्तत्त्व कहते हैं। यह प्रकृति का एक सत्त्वगुण प्रधान परिणाम होता है। इसी से अहंकारतत्त्व का आविर्भाव हो जाता है। निश्चयात्मक अध्यवसाय रूप स्फुट विषयज्ञान इस महत्तत्त्व में ही होता है।

महामाया — (१) महामाया शुद्ध विद्या के निचले स्तर को भी कहते हैं जिसमें मन्त्र प्राणी ठहरते हैं। यह महामाया माया की तरह भेद का अवभास तो कराती है परन्तु आत्मा की संवित् स्वरूपता का तिरोधान नहीं करती है। अत: इसे माया न कहकर महामाया कहा जाता है।

महामाया — (२) पारमेश्वरी पराशक्ति को भी महामाया कहते हैं। माया तो असम्भव घटना को भी सम्भव बनाने वाली शक्ति होती है। अत: उसका स्वरूप अतीव रहस्यमय होता है। पारमेश्वरी पराशक्ति का ही स्फार यह प्रपञ्च है, फिर भी उसका स्वरूप और स्वभाव बुद्धिगम्य न होता

हुआ अत्यन्त रहस्यमय ही होता है। इस विचार से उसे महामाया कहते हैं।

महाविद्या – पारमेश्वरी पराशक्ति। विद्या और अविद्या को अथवा अशुद्ध विद्या और शुद्ध विद्या को अपने विलास से अभिव्यक्त करती हुई परा शक्ति को ऐसे अभिव्यञ्जन के सामर्थ्य की दृष्टि से महाविद्या भी कहते हैं।

माया – अघटनीय और असम्भव घटना को भी सम्भव बनाने वाली परमेश्वर की शक्ति।

मायातत्त्व – सृष्टि के क्रम में प्रकट होने वाला, आत्मा के स्वरूप और स्वभाव को आवृत करने वाला तथा जड़ सृष्टि का उपादान कारण बनने वाला मलिन तत्त्व।

मायामल – भेद दृष्टिरूपी अज्ञान को मायामल कहते हैं। इसके प्रभाव से प्राणी वस्तुत: स्वात्मरूपी जगत् को अपने से भिन्न ही समझ बैठता है, उसे स्वात्मरूप नहीं समझता।

मायीयमल – मायामल को ही मायीयमल कहते हैं।

राग – शरीर, पुत्र, स्त्री, धन आदि के साथ आसक्ति।

रागतत्त्व – जीव की एक विशेष प्रकार की रूचि जिसके कारण वह किसी ही विषय के प्रति अपनी अशुद्ध–विद्या और कला का प्रयोग करता है। अपने शरीर आदि और उनके अनुकूल प्रेय पदार्थों को अतीव महत्त्व की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति तथा उनके नाश होने के भय से घबराने का जीव का स्वभाव।

रागप्राप्त कर्म – वे कर्म जिनमें मानव को अपनी स्वाभाविक

आसक्ति से ही प्रवृत्ति होती है। उसके लिए वेद के विधिवाक्यों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, जैसे खाना, पीना, सोना, विषयसेवन करना इत्यादि।

विक्रम — इच्छा शक्ति के व्यवहार को विक्रम कहते हैं। ज्ञान में भी क्रम होता है परन्तु क्रिया के क्रम की तरह नियत नहीं होता है। वहां क्रम अनियत होता है। वहां पहले कार्य का ज्ञान हो सकता है और तदनन्तर कारण का। इच्छा में तो क्रम होता ही नहीं। अत: इच्छा के व्यवहार को " विगत: क्रमो यस्मात् स विक्रम:" इस प्रकार से विक्रम कहते हैं। वहां कभी विशिष्ट क्रम अर्थात् इतनी तीव्र गति वाला क्रम होता है कि उसकी क्रमरूपता की प्रतीति ही नहीं होती। इस दृष्टि से भी उसे विक्रम कहते हैं।

विज्ञान — ज्ञान तो वस्तु के जानने मात्र को कहते हैं, परन्तु विज्ञान क्रिया द्वारा उसके सम्पादन को कहते हैं। ज्ञान बुद्धि के स्तर पर समझने को कहा जाता है, परन्तु विज्ञान साक्षात् अनुभव में लाना होता है। आत्मा के वास्तविक विज्ञान से उसकी परमेश्वरता साक्षात् अनुभव में आती है।

विज्ञानाकल प्राणी — ऐसे प्राणी जो अपने आप को शुद्ध प्रकाशरूप तो समझते हों, परन्तु अपनी स्वतन्त्र क्रिया–शक्ति की अनुभूति से रहित हों। ये प्राणी ऐश्वर्यहीन और शून्यप्राय प्रकाश में ही ठहरे रहते हैं। वेदान्त के अजातवाद के उपासक और सांख्य के कैवल्य पर ठहरे हुए प्राणी प्राय:

विज्ञानाकल दशा में ही चिरकाल तक ठहरे रहते हैं। इन्हें विज्ञानकेवली भी कहते हैं।

विद्या – वस्तु का यथार्थ ज्ञान। अपने आप को तथा सारे जगत् को शुद्ध, असीम और परिपूर्ण परमेश्वर ही समझ लेना विद्या होती है।

विद्यातत्त्व (अशुद्ध)– जीव के कुछ कुछ ही जान लेने के सामर्थ्य का नाम अशुद्ध–विद्या–तत्त्व होता है।

विद्यातत्त्व (वर्ग) – शुद्ध विद्या से लेकर सदाशिव तक का तत्त्ववर्ग विद्यातत्त्व वर्ग कहलाता है। ऐसी व्यवस्था त्रितत्त्व कल्पना में ठहराई गई है।

विद्यातत्त्व (शुद्ध) – भगवान् सदा शिव और समस्त मन्त्र–महेश्वरों का तथा भगवान् ईश्वर और सभी मन्त्रेश्वरों का भेदाभेदमय दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण से वे भेदमय संसार को अपने से अभिन्न ही समझते रहते हैं।

विद्येश्वर – निचले स्तर की शुद्ध विद्या के अधिकारी प्राणी। इन्हें मन्त्र–प्राणी भी कहते हैं। इन्हें अपने आप के स्वरूप और स्वभाव के विषय में कोई भ्रान्ति नहीं होती है, परन्तु फिर भी ये प्रमेय जगत् को अपने से भिन्न ही मानते हैं।

विमर्श – चैतन्य स्वयमेव अपने स्वभाव से ही प्रकट होता रहता है। अत: वह प्रकाशरूप होता है। साथ ही उसे अपने आप की तथा अपनी प्रकाशमानता की जो प्रतीति होती रहती है वह उसका विमर्श कहलाता है। प्रकट होना ज्ञान होता है और प्रकट होने की प्रतीति क्रिया होती है। पारमेश्वरी दशा में प्रकाश ज्ञान है और विमर्श क्रिया है।

विलास — परमेश्वर की परमेश्वरता की अभिव्यक्ति के व्यवहार को उसका विलास कहते हैं। पारमेश्वरी लीला के पञ्चकृत्य भी विलास ही होते हैं।

विवर्त्त — असत्य वस्तु का आभास विवर्त्त कहलाता है। वस्तु का अपने वास्तविक रूप में प्रकट न होकर किसी अन्यरूप में प्रकट होना भी विवर्त्त होता है।

विवर्त्तवाद — जगत् के आभास को विवर्तरूप मानने वाला वेदान्त का सिद्धान्त विवर्त्तवाद कहलाता है।

विशिष्टाद्वैत — रामानुज सम्प्रदाय का सिद्धान्त। तदनुसार एकमात्र परब्रह्म ही सत्य है। अत: अद्वैत ही सत्य सिद्धान्त है। परन्तु वह परब्रह्म सदैव जगत् से विशिष्ट ही है, अर्थात् स्वभाव से ही जगत् उसका विशेषण या प्रकार बना ही रहता है और वह जगत् से रहित कभी नहीं होता। जगत् की अपनी सत्ता के होते हुए भी वह परमेश्वर रूप ही है, जैसे अनार के दाने दाने होते हुए भी अनार ही हैं और अनार भी अनेकों दानों से विशिष्ट होता हुआ भी एक ही होता है। इस प्रकार का दर्शन सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत होता है।

विशुद्धाद्वैत — वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय का सिद्धान्त। तदनुसार एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण की ही पारमार्थिक सत्ता है। वही अपनी स्वतन्त्र लीला से अपने आप को ही जीवरूप में और जगद्रूप में चमकाकर उस जीवरूपता और जगद्रूपता को पुन: श्रीकृष्णरूपता में ही चमकाता रहता है।

वह श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। यह सब कुछ ब्रह्म की अपनी ही शक्ति से होता है। ऐसा अद्वैत सिद्धान्त जिसमें उपाधि के रूप में माया की प्रातिभासिक सत्ता को मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, विशुद्धाद्वैत कहलाता है।

वैरवरी वाणी – मुख से बोली जाती हुई और कानों से सुनी जाती हुई ध्वन्यात्मक वाणी। इस वाणी का व्यवहार जाग्रत् अवस्था में होता है।

व्यावहारिक सत्ता– संसार के व्यवहार में दृश्यमान पदार्थों की सत्ता। यह सत्ता वास्तविक न होती हुई असत्ता ही होती है, ऐसा वेदान्त का मत है।

शक्ति – परमेश्वर की परमेश्वरता। परमेश्वर का वह स्वभाव जिसके कारण वह पञ्चकृत्य करता ही रहता है। उसकी विमर्शरूपता और स्पन्दमानता।

शक्तितत्त्व – परमेश्वर का क्रिया प्रधान स्वरूप। विश्वसृष्टि के प्रति उसकी उन्मुखता की अवस्था।

शक्तिभाव – परमेश्वर की विश्वमयता का विमर्श।

शिव – परमेश्वर की अविचल और कूटस्थ प्रकाशरूपता।

शिवतत्व – विश्वोतीर्ण शुद्ध प्रकाशात्मक परिपूर्ण तत्त्व। वह तत्त्व जो शुद्ध प्रकाशमात्र होता हुआ भी समस्त प्रपञ्च का एकमात्र उद्भवस्थान है। वह शुद्ध प्रकाश जिससे सब कुछ उदित होता है और जिसमें सब कुछ विलीन हो जाता है और होता है उसी की इच्छा से। ऐसा होते हुए भी वह तत्त्व अपने स्वरूप से ज़रा भर भी विचलित नहीं होता है।

शिवतत्त्व (वर्ग)– त्रितत्त्व कल्पना में शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व को शिवतत्त्व वर्ग कहा जाता है।

शिवभाव – परमेश्वर की प्रकाश प्रधानता। उसकी विश्वोत्तीर्णता का विमर्श।

शुद्धविद्यातत्त्व – भेद में भी अभेद की दृष्टि। वह दृष्टिकोण जिसका आश्रय, मन्त्र–महेश्वर और मन्त्रेश्वर लेते रहते हैं। सदाशिवनाथ और ईश्वर भट्टारक का करणस्थानीय तत्त्व।

श्रवण – विधिपूर्वक गुरु से शास्त्र का पढ़ना।

श्रोत्रिय – समस्त शास्त्रों का जानकार और समस्त शङ्काओं को शान्त कर सकने वाला गुरु।

षड्विध ऐश्वर्य– (१) छः प्रकार का ऐश्वर्य – ईश्वरता, वीर्य, यश, विभूति, ज्ञान और वैराग्य की सम्पदाऐं।

(२) भूतों की उत्पत्ति, विनाश, आगमन और गमन का तथा विद्या और अविद्या का सारा ज्ञान।

संवित् – शुद्ध चैतन्य। शुद्ध प्रकाश और शुद्ध विमर्श का सामरस्य।

संहार – विश्व को अपने में विलीन कर लेने की लीला।

सकल प्राणी – तीनों प्रकार के मलों से युक्त और जन्म मरण के चक्कर में घूमते हुए बद्ध प्राणी। पौधों और कीड़ों मकोड़ों से लेकर देवताओं तक के सारे प्राणी सकल प्राणी होते हैं।

सदाशिवतत्त्व – सृष्टि क्रम में वह दशा जहां शुद्ध प्रमाता के भीतर सामान्याकार प्रमेय–अंश का धीमा सा आभास होने लग जाता है।

सापेक्ष – दूसरे की अपेक्षा के बिना प्रकट ही न होने वाला पदार्थ। किसी दूसरे पदार्थ को दृष्टि में रखते हुए ही प्रकट होने वाला पदार्थ।

सामरस्य – अनेकों का इस तरह से एक होकर रहना कि अनेकता का नाम भी शेष न रहे। अनेकों की सर्वथा एकरूपता।

सिंहावलोकन (न्याय)– वर्णन किए हुए विषय का एक बार फिर से संक्षेपत: वर्णन करना। सारे प्रकरण पर एक आद्योपान्त दृष्टि से विचार करना।

सुषुप्ति – वह अवस्था जिसमें मन, बुद्धि और इन्द्रियां विलीन सी हो जाती हैं, और केवल संकोच युक्त चेतना ही अपने ही धीमे से प्रकाश से प्रकट होती रहती है। निद्रा, मूर्छा, मद, समाधि आदि इसके प्रकार होते हैं। सभी प्रलयाकल प्राणी सुषुप्ति दशा में पड़े रहते हैं।

सृष्टि – स्वात्मरूप जगत् को अपने से भिन्न रूप में प्रकट करने की पारमेश्वरी लीला।

स्थिति – भिन्न रूपतया प्रकट किए हुए जगत् को उसी तरह ठहराए रखने की पारमेश्वरी लीला।

स्वप्न दशा – वह अवस्था जिसमें प्रमाता केवल अन्त:करणों से ही और सूक्ष्म शरीर से ही सभी व्यवहारों को करता है। देवता, पितर आदि स्वर्गादि लोकों के निवासी स्वप्नलोकों के प्राणी होते हैं।

स्वप्रकाश – अन्त:करणों और बाह्यकरणों की सहायता के बिना ही केवल अपनी ही महिमा से स्वयमेव

प्रकट होने वाला तत्त्व स्वप्रकाश तत्त्व कहलाता है। चैतन्यस्वरूप आत्मा ही स्वप्रकाश होता है।

स्वभाव शक्ति– स्वभावभूत शक्ति। परमेश्वर की अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता।

स्वयं प्रकाश – स्वप्रकाश।

स्वातन्त्र्य–सिद्धान्त– वह दर्शन सिद्धान्त जिसके अनुसार परमेश्वर अपने ही स्वभाव के कारण अपनी ही इच्छा से और अपने ही स्वभावभूत ऐश्वर्य के विलास से स्वयमेव विश्व के रूप में प्रकट होता रहता है, स्वयमेव अपनी परमेश्वरता को भुला डाल कर जीव रूप में प्रकट होता है और स्वयमेव अपनी उस भुला डाली हुई परमेश्वरता को पुन: पहचान कर ही मानो कृतकृत्य होता रहता है। यह स्वातन्त्र्य सिद्धान्त सिद्धजनों का दर्शन सिद्धान्त है।

हंसवागीश्वरी – "हंस:, हंस:" इस प्रकार के स्वरसवाही अजपाजाप के मन्त्र की देवी। बाला त्रिपुरा देवी।

ह – शक्ति तत्त्व।

—— :o: ——